शिक्षा में अहिंसक क्रान्ति

[अखिल भारत-शिक्षा-परिषद्, वर्धा के कार्य-विवरण के साथ]

प्रकाशक

मारवाड़ी-शिक्षा-मण्डल, वर्धा

१९३७

शिक्षा में अहिंसक क्रान्ति

[अखिल भारत-शिक्षा-परिषद्, वर्धा के कार्य-विवरण के साथ]

प्रकाशक

मारवाड़ी-शिक्षा-मण्डल, वर्धा

१९३७

सम्पादक
श्री काशिनाथ त्रिवेदी
महिलाश्रम, वर्धा

पहला संस्करण
दो हज़ार

मूल्य
बारह आना

मुद्रक
मार्तण्डराव लक्ष्मणराव प्रयागी
सुबोधसिन्धु प्रेस, खण्डवा.

दो शब्द

जब मैंने वर्धा के मारवाड़ी-शिक्षा-मण्डल और उसके अन्तर्गत नवभारत विद्यालय की रजत-जयन्ती के अवसर पर एक राष्ट्रीय शिक्षा-परिषद् की योजना पूज्य **महात्मा गांधी** के सामने रक्खी थी, तब मुझे यह आशा न थी कि यह परिषद् देश के लिए इतनी महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगी। शुरू में तो मेरा यही विचार था कि कुछ शिक्षा-शास्त्रियों को आमन्त्रित करूं, जो गांधीजी की स्वावलम्बी शिक्षा-योजना के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करें और एक-दूसरे को अपने अनुभव बतलायें। धीरे-धीरे जब आमन्त्रित व्यक्तियों की संख्या बढ़ने लगी और परिषद् का रूप अधिक महत्त्वपूर्ण बनने लगा, तब मैंने पूज्य महात्माजी से प्रार्थना की कि वे इस परिषद् का अध्यक्ष-पद स्वीकार करें। उन्होंने मेरी प्रार्थना क़बूल की, और इस प्रकार यह शिक्षा-परिषद् बड़ी सफलता-पूर्वक हुई।

परिषद् का संक्षिप्त विवरण 'हरिजन' में प्रकाशित हो चुका है। लेकिन शिक्षा-मण्डल ने उसका विस्तृत विवरण भी प्रकाशित करना उचित समझा। मुझे आशा है, इस विषय के प्रेमी इससे पूरा लाभ उठायेंगे। परिषद् के पहले महात्माजी ने शिक्षा-सम्बन्धी जो लेख 'हरिजन' और 'हरिजन-बन्धु' में लिखे थे, वे भी साथ में प्रकाशित किये जा रहे हैं।

इस पुस्तक के सम्पादन और प्रकाशन में महिलाश्रम, वर्धा के श्री काशिनाथजी त्रिवेदी ने शुरू से अखीर तक बहुत श्रम किया है, जिसके लिए मैं उनका अत्यन्त आभारी हूँ। मैं महिलाश्रम, वर्धा की प्रबन्ध-समिति का भी आभारी हूँ, जिसकी कृपा से, मण्डल की प्रार्थना पर, इस काम के लिए श्री त्रिवेदीजी की सेवायें हमें प्राप्त हो सकीं!

वर्धा
१५-१२-'३७

श्रीमन्नारायण अग्रवाल
प्रबन्ध मन्त्री
मारवाड़ी शिक्षा-मण्डल, वर्धा

विषय-सूची

पहला हिस्सा

शिक्षा में अहिंसक क्रान्ति

दूसरा हिस्सा

अखिल भारत-शिक्षा-परिषद्, वर्धा का कार्य-विवरण

प्रस्तावना-विभाग

विवरण-विभाग

शिक्षा में अहिंसक क्रान्ति

महात्मा गांधी

महात्मा गांधी

शिक्षा

३१ जुलाई, १९३७ के *'हरिजन'* में *गांधीजी* ने *'क्रिटिसिज़्म एन्सर्ड'* यानी 'आलोचनाओं का जवाब' शीर्षक से एक लम्बा लेख लिखा था। यह 'शिक्षा' शीर्षक लेख उसी लेख का एक अङ्ग है :

हमारे यहाँ शिक्षा के सवाल का हल दुर्भाग्यवश शराब की आय के बन्द हो जाने से जुड़ा हुआ है। निःसन्देह नये कर लगाने के और भी रास्ते हैं। अध्यापक शाह और अध्यापक खम्भाता ने यह दिखाया है कि इस ग़रीब देश में आज भी नये कर देने की शक्ति है। धनवानों के धन पर अभी काफ़ी कर नहीं लगा है। दुनिया के दूसरे देशों के मुक़ाबले इस देश में कुछ चुने हुए व्यक्तियों का, स्वयं बहुत ज्यादा धन बटोर लेना, हिन्दुस्तान के मानव-समाज का अपराध करना है। इसलिए एक निश्चित सीमा से अधिक की सम्पत्ति पर कितना ही कर क्यों न लगाया जाय, वह कभी हद से ज्यादा नहीं कहा जा सकता। मैंने सुना है कि इंग्लैण्ड में एक निश्चित आमदनी से अधिक की आमदनी पर ७० फ़ीसदी तक कर वसूल किया जाता है। फिर, क्यों न हिन्दुस्तान इससे भी ज्यादा कर लगाये? किसी आदमी के मरने पर उसके वारिस को जो विरासत मिलती है, उसपर यह कर क्यों न लगाया जाय? बालिग़ हो जाने पर भी जब लखपतियों के लड़कों को अपने पिता की सम्पत्ति उत्तराधिकार में मिलती है, तो इस सम्पत्ति के कारण ही उनको नुकसान पहुँचता है। और राष्ट्र की तो इससे दुगुनी हानि होती है। क्योंकि, अगर सच पूछा जाय, तो इस सम्पत्ति पर राष्ट्र का ही अधिकार होना चाहिए। सिवा इसके, जो इस सम्पत्ति को विरासत में पाते हैं, वे इसके बोझ के नीचे इस तरह दब जाते हैं, कि उनकी शक्तियों का पूरा-पूरा विकास नहीं हो पाता। इससे भी राष्ट्र की उतनी ही हानि होती है। मेरी दलील को इस हक़ीक़त से कोई नुकसान नहीं पहुँचता कि प्रान्तीय सरकारों को इस तरह का मृत्युकर लगाने का अधिकार नहीं है।

लेकिन एक राष्ट्र के नाते शिक्षा में हम इतने पिछड़े हुए हैं कि अगर शिक्षा-प्रचार के कार्यक्रम का आधार पैसा रहे, तो इस विषय में जनता के प्रति अपने कर्त्तव्य-पालन की आशा हम कभी नहीं रख सकते। इसलिए रचनात्मक कार्य-सम्बन्धी अपनी सारी प्रतिष्ठा को खो बैठने का जोखिम उठाकर भी मैंने यह कहने का साहस किया है कि शिक्षा स्वावलम्बी होनी चाहिए। सच्ची शिक्षा वही है, जिसे पाकर मनुष्य अपने शरीर, मन और आत्मा के उत्तम गुणों का सर्वांगीण विकास कर सके, और उन्हें प्रकाश में ला सके। साक्षरता न तो शिक्षा का अन्तिम ध्येय है, न उससे शिक्षा का आरम्भ ही होता है। वह तो स्त्री-पुरुषों को शिक्षित बनाने के अनेक साधनों में एक साधन-मात्र है। अपने आप में साक्षरता कोई शिक्षा नहीं है। इसलिए मैं तो बच्चे की शिक्षा का आरम्भ उसे कोई उपयोगी दस्तकारी सिखाकर, अर्थात जिस क्षण से उसकी शिक्षा शुरू होती है, उसी क्षण से उसे कुछ-न-कुछ नया सृजन करना सिखाकर ही करूँगा। इस तरीक़े से हरएक पाठशाला स्वावलम्बी बन सकती है। शर्त सिर्फ़ यह है कि इन पाठशालाओं में तैयार होनेवाले माल को सरकार ख़रीद लिया करे। मैं मानता हूँ कि इस पद्धति द्वारा मन और आत्मा का उच्च-से-उच्च विकास किया जा सकता है। इसके लिए आवश्यक है कि जो उद्योग-धन्धे आज केवल यंत्रवत् सिखाये जाते हैं, वे वैज्ञानिक ढंग से सिखाये जायँ, यानी बच्चों को यह समझाया जाय कि कौनसी क्रिया किसलिए की जाती है। इस चीज़ को मैं थोड़े आत्मविश्वास के साथ लिख रहा हूँ, क्योंकि इसकी पीठ पर मेरे अनुभव का बल है। जहाँ-जहाँ मज़दूरों को चर्खे पर सूत कातना सिखाया जाता है, तहाँ-तहाँ सब जगह इस तरीक़े से कमोबेश काम लिया गया है। खुद मैंने भी इस तरीक़े से चप्पल सीना और कातना सिखाया है, और उसका परिणाम अच्छा हुआ है। इस तरीक़े में इतिहास-भूगोल के ज्ञान का बहिष्कार नहीं किया गया है। लेकिन मेरा तजरबा यह है कि बातचीत के ज़रिये ज़बानी जानकारी देकर ही ये विषय अच्छी-से-अच्छी तरह सिखाये जा सकते हैं। वाचन-लेखन की अपेक्षा इस श्रवण-पद्धति से दसगुना ज्यादा ज्ञान दिया जा सकता है। जब लड़के-लड़की भले-बुरे का भेद समझने लगें, और उनकी रुचि का थोड़ा विकास हो जाय, तभी उन्हें लिखना-पढ़ना सिखाना चाहिए। यह सूचना मौजूदा शिक्षा-प्रणाली में क्रान्तिकारी परिवर्तनों की सूचक है, लेकिन इसके कारण मेहनत बहुत ही बच जाती है, और जिस चीज़ को सीखने में विद्यार्थी को बरसों बीत जाते हैं, उसे इस तरीक़े से वह एक साल में सीख सकता है। इसके कारण सब तरह की बचत होती है। और इसमें कोई शक नहीं कि दस्तकारी के साथ-साथ विद्यार्थी गणित भी अवश्य ही सीखेगा।

प्राथमिक शिक्षा को मैं सबसे ज्यादा महत्त्व देता हूँ। मेरे विचार में, यह शिक्षा अंग्रेज़ी को छोड़कर और विषयों में आजकल की मैट्रिक तक होनी चाहिए। अगर कॉलेज के सब ग्रैजुएट अपना पढ़ा-लिखा एकाएक भूल जायें, और इन कुछ लाख ग्रैजुएटों की याददाश्त के यों एकाएक बेकार हो जाने से देश का जो नुकसान हो, उसे एक पलड़े पर रखिये, और दूसरी ओर उस नुकसान को रखिये, जो पैंतीस करोड़ स्त्री-पुरुषों के अज्ञानान्धकार में घिरे रहने से आज भी हो रहा है, तो साफ़ मालूम होगा कि दूसरे नुकसान के सामने पहला कोई चीज़ नहीं है। देश में निरक्षरों और अनपढ़ों की जो संख्या बताई जाती है, उसके आँकड़ों से हम लाखों गाँवों में फैले हुए घोरतम अज्ञान का पूरा अनुमान नहीं कर सकते।

अगर मेरा बस चले, तो मैं कॉलेज की शिक्षा को जड़-मूल से बदल दूँ, और देश की आवश्यकताओं के साथ उसका सम्बन्ध जोड़ दूँ। मैं चाहता हूँ कि मिकैनिकल और सिविल इंजीनियरों के लिए उपाधि परीक्षायें रक्खी जायें, और भिन्न-भिन्न कल-कारखानों के साथ उनका सम्बन्ध स्थापित कर दिया जाय। इन कारखानों को जितने ग्रैजुएटों की ज़रूरत हो, उतनों को ये अपने ही खर्च से तालीम दिलाकर तैयार कर लें। उदाहरण के लिए, ताता कम्पनी से यह आशा की जाय, कि जितने इंजीनियरों की उसे ज़रूरत हो, उतनों को तैयार करने के लिए वह राज्य की निगरानी में एक कॉलेज का संचालन करे। इसी तरह मिल-मालिकों के मण्डल भी आपस में मिलकर अपनी ज़रूरत के ग्रैजुएटों को तैयार करने के लिए एक कॉलेज का संचालन करें। दूसरे अनेक उद्योग-धन्धों के लिए भी यही किया जाय। व्यापार के लिए भी एक कॉलेज हो। इसके बाद आर्ट्स, मेडिकल और कृषि-कॉलेज रह जाते हैं। आज कई 'आर्ट्स' कॉलेज अपने पैरों खड़े होकर चल रहे हैं। इसलिए राज्य अपनी ओर से 'आर्ट्स' कॉलेज चलाना छोड़ दे। मेडिकल कॉलेजों को प्रमाणित अस्पतालों के साथ जोड़ दिया जाय। चूँकि ऐसे कॉलेज धनिक-समाज में लोकप्रिय हैं, इसलिए उससे यह आशा रक्खी जाय, कि वह इनके संचालन का भार स्वेच्छा से अपने ऊपर ले ले। कृषि-कॉलेज तो अपने नाम को तभी सार्थक कर सकते हैं, जब वे स्वावलम्बी हों। मुझे कृषि-कॉलेजों से निकले हुए अनेक ग्रैजुएटों का बड़ा कड़ुआ अनुभव हुआ है। उनका ज्ञान बहुत ही उथला और व्यावहारिक अनुभव नाम-मात्र का होता है। लेकिन अगर उन्हें स्वावलम्बी और देश की ज़रूरतें पूरी करनेवाले फार्मों पर उम्मीदवारी करनी पड़े, तो डिग्री पाने के बाद,

और जिनकी नौकरी करते हैं उनके खर्च से, व्यावहारिक अनुभव प्राप्त करने की आवश्यकता उन्हें न रह जाय।

इसे आप निरा काल्पनिक चित्र न समझें। अगर हम अपनी मानसिक जड़ता को दूर कर सकें, तो हमें तुरन्त ही पता चल जाय कि शिक्षा का जो प्रश्न आज महासभा के मंत्रियों के और फलतः स्वयं महासभा के सामने उपस्थित है, उसका यह बहुत ही उपयुक्त और व्यावहारिक हल है। कुछ समय पहले ब्रिटिश सरकार की ओर से जो घोषणायें की गई हैं, अगर सचमुच उनका अर्थ वही है, जो हमारे कान को प्रतीत होता है, तो मंत्रियों को अपनी नीति का अमल कराने में सिविल सर्विस की संगठित कार्य-शक्ति का लाभ मिलना ही चाहिए। हर तरह के मौजी और मनस्वी गवर्नरों और वाइसरायों द्वारा निर्धारित राज्यनीति को अमल में लाने की कला सरकारी नौकरों ने सीख रक्खी है। मंत्रियों का कर्त्तव्य है कि वे अच्छी तरह सोच-समझ कर एक निश्चित शासन-नीति तय करें, और सिविल सर्विसवाले जिनका नमक खाते हैं, उनके प्रति वफ़ादार रहकर उन वचनों को सच्चा करें, जो उनकी ओर से दिये गये हैं।

बाद में शिक्षकों का प्रश्न रह जाता है। इसके लिए विद्वान् स्त्री-पुरुषों से अनिवार्य सेवा लेने का जो उपाय प्रोफ़ेसर शाह ने सुझाया है, वह मुझे अच्छा लगा है। ऐसे लोगों के लिए यह अनिवार्य हो कि वे कुछ वर्षों तक (सम्भवतः पाँच बरस तक) जनता को उन विषयों की शिक्षा दें, जिनमें उन्होंने योग्यता प्राप्त की है। इस बीच जीविका निर्वाह के लिए उन्हें जो वेतन दिया जाय, वह देश की आर्थिक स्थिति के अनुरूप हो। उच्च शिक्षा की संस्थाओं में आज शिक्षक और अध्यापक बहुत अधिक वेतन की अपेक्षा रखते हैं। अब यह प्रथा मिट जानी चाहिए। गाँवों में इस समय जो शिक्षक काम कर रहे हैं, उनके बदले वहाँ दूसरे अधिक योग्य आदमी रक्खे जाने चाहिएँ।

अनावश्यक भय

तीन साल में शराब-बन्दी के कांग्रेसी कार्यक्रम की बड़ी तारीफ़ करते हुए एक लिबरल मित्र ने शिक्षा के बारे में अपना भय इस प्रकार प्रकट किया है :

" महासभा के शिक्षा-सम्बन्धी कार्यक्रम से लोगों में बेचैनी-सी फैलती दिखाई देती है। उन्हें डर है कि इस नीति के कारण उच्च शिक्षा की प्रगति में रुकावट पैदा होगी। मुझे उम्मीद है कि जबतक भली-भाँति सोच-समझकर तैयार की हुई योजना न बन जाय, और जनता को प्रस्तावित परिवर्तनों की सूचना काफ़ी पहले से न दे दी जाय, तबतक जल्दी में कोई कार्रवाई न की जायगी। "

यह भय बिलकुल अनावश्यक है। कांग्रेस-कार्य-समिति ने अपनी कोई व्यापक नीति निर्धारित नहीं की है। कांग्रेस ने काशी विद्यापीठ, जामिया मिलिया, तिलक विद्यापीठ, बिहार विद्यापीठ, गुजरात विद्यापीठ, और ऐसी दूसरी राष्ट्रीय शिक्षा-संस्थाओं की स्थापना करने के सिवा, ऐसी कोई घोषणा नहीं की है, जो शिक्षा के समग्र क्षेत्र पर घटित होती हो। मैंने जो कुछ लिखा है, सो इस विषय पर अपने विचार प्रकट करने की दृष्टि से लिखा है। वर्तमान शिक्षा-प्रणाली ने देश के नौजवानों को, हिन्दुस्तान की भाषाओं को, और देश की सर्वमान्य संस्कृति को जो अपार हानि पहुँचाई है, उसको मैं बहुत तीव्रता के साथ अनुभव किया करता हूँ। मेरे विचार बहुत दृढ़ हैं। लेकिन मैं यह दावा नहीं करता कि सभी कांग्रेसवादियों को आमतौर पर मैं अपने विचारों के अनुकूल बना सका हूँ। जो शिक्षा-शास्त्री महासभा के वातावरण से भी दूर हैं, और भारतीय विश्वविद्यालयों पर जिनका प्रभाव है, उनके बारे में तो मैं कही क्या सकता हूँ ? उनके विचारों को बदलना आसान नहीं है। इन मित्र को और इनके-जैसा डर रखनेवालों को विश्वास रखना चाहिए कि श्री **श्रीनिवास शास्त्री** ने जो सलाह दी है, उसे इस विषय से

सम्बन्ध रखनेवाले सब ध्यान में रक्खेंगे, और बिना पूरा-पूरा विचार किये और शिक्षा के मामले में जिनकी सलाह बहुमूल्य मानी जाती है, उन सबके साथ बिना सलाह-मशविरा किये, किसी भी प्रकार का महत्त्वपूर्ण निर्णय नहीं किया जायगा। मैं इतना और कहूँगा कि मैंने बहुत पहले से बहुतेरे शिक्षा-शास्त्रियों के साथ पत्र-व्यवहार शुरू कर दिया है, और मुझे यह कहते हुए खुशी होती है कि जो बहुमूल्य सम्मतियाँ इधर मुझे मिली हैं, वे आमतौर पर मेरी योजना के अनुकूल ही पड़ती हैं।

(हरिजन, २८ अगस्त, १९३७)

क्या साक्षरता नहीं?

इस पत्र में शिक्षा-सम्बन्धी जो विचार मैंने प्रकट किये हैं, उनपर मेरे पास बहुतेरी सम्मतियाँ आई हैं। इनमें जो सबसे महत्त्व की हैं, सम्भव है, आगे चलकर उन्हें मैं इस पत्र में दे सकूँ। इस समय तो सिर्फ एक विद्वान पत्र-लेखक की शिकायत का जवाब देना चाहता हूँ। उनके विचार में, मैंने साक्षरता की उपेक्षा करने का अपराध किया है। मैंने जो कुछ लिखा है, उसमें ऐसी धारणा को पुष्ट करनेवाली कोई चीज़ नहीं है। क्या मैंने यह नहीं कहा कि जो पाठशालायें मेरी कल्पना के अनुसार चलेंगी, उनमें बालकों को दी जाने-वाली दस्तकारी की शिक्षा के मारफत दूसरे सब प्रकार की शिक्षा भी मिलेगी? इसमें साक्षरता का भी समावेश हो जाता है। मेरी योजना में हाथ से चित्र बनाने या अक्षर लिखने से पहले बालक औज़ारों का उपयोग करना सीखेंगे। आँखें जिस प्रकार संसार की दूसरी चीज़ों को देखती-परखती हैं, उसी प्रकार अक्षरों और शब्दों के चित्रों को भी देखें-परखेंगी। कान वस्तुओं और वाक्यों के नाम और अर्थ को ग्रहण करते रहेंगे। शिक्षा की यह पद्धति पूरी तरह स्वाभाविक होगी; बालकों का मनोरंजन करनेवाली होगी; और इसीलिए देश में प्रचलित सभी शिक्षा-प्रणालियों की अपेक्षा अधिक प्रगतिशील और सस्ती होगी। इस प्रकार मेरी पाठशाला के बालक जितनी तेज़ी से लिखेंगे, उससे कहीं ज्यादा गति से वे पढ़ेंगे। और, जब वे लिखेंगे तो मेरी तरह 'चींटों के पैर' न

लिखेंगे, बल्कि जिस तरह अपनी देखी-परखी चीज़ों के हूबहू चित्र बनायेंगे, उसी तरह शुद्ध और सुन्दर अक्षर भी लिखेंगे। यदि मेरी कल्पना की पाठशालायें कभी स्थापित हुईं, तो मैं दावे के साथ कहता हूँ कि वे वाचन के क्षेत्र में सबसे आगे बढ़ी हुई पाठशालाओं का मुकाबला कर सकेंगी; और अगर लेखन के बारे में भी सब इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हों कि वह आजकल की अधिकांश पाठशालाओं की तरह अशुद्ध नहीं, बल्कि शुद्ध होना चाहिए, तो मेरी पाठशालायें इसमें भी दूसरी किसी भी पाठशाला की बराबरी कर सकेंगी। सेगाँव की पाठशाला में आज बच्चे जिस तरीक़े से लिखते हैं, वह पुराना तरीक़ा कहा जा सकता है। मेरे विचार में इस तरह वे जो कुछ लिखते हैं, उसमें काग़ज़ और स्लेट का अपव्यय-मात्र होता है।

पाठशालाओं में संगीत

गान्धर्व महाविद्यालय के पण्डित नारायण शास्त्री खरे ने बालक-बालिकाओं में शुद्ध संगीत का प्रचार करने के काम में अपना सारा जीवन खपा दिया है। खासतौर पर अहमदाबाद में, और आमतौर पर सारे गुजरात में इस ओर जो ज़ोरों की प्रगति हो रही है, उसका विवरण उन्होंने मेरे पास भेजा है; और इस बात पर अपना दुःख प्रकट किया है कि शिक्षा-विभाग के अधिकारी पाठ्यक्रम में संगीत को शामिल करने की बात पर ध्यान नहीं दे रहे हैं। पण्डितजी की अनुभव-सिद्ध सम्मति है कि प्राथमिक शिक्षा के पाठ्यक्रम में संगीत को जगह मिलनी ही चाहिए। उनकी इस सूचना का मैं हृदय से समर्थन करता हूँ। जितनी ज़रूरत बालक के हाथ को तालीम देने की है, उतनी ही उसके कण्ठ को सुधारने की भी है। बालकों और बालिकाओं की छिपी हुई शक्तियों को प्रकट करने और उनमें शिक्षा का रस पैदा करने के लिए, ज़रूरी है कि उन्हें क़वायद, हुनर-उद्योग, चित्रकला और संगीत की शिक्षा साथ-साथ दी जाय।

मैं मानता हूँ कि इसका अर्थ होता है, शिक्षा की वर्तमान पद्धति में क्रान्ति! अगर देश के भावी नागरिकों को अपने जीवन-कार्य की नींव मज़बूत बनानी है, तो ये

चार चीज़ें ज़रूरी हो जाती हैं। आप किसी भी प्राथमिक पाठशाला में जाकर देखें, आमतौर पर लड़के आपको ऐसे मिलेंगे, जो गन्दे होंगे, अव्यवस्थित होंगे, और बेसुर-बेताल में गानेवाले होंगे। इसलिए मुझे इसमें कोई शंका नहीं मालूम होती कि जब प्रान्त-प्रान्त के शिक्षा-मंत्री अपने यहाँ शिक्षा की नई पद्धति का निर्माण करके उसे देश की आवश्यकताओं के अनुकूल बनायेंगे, तब वे उन आवश्यक विषयों को अपने कार्य-क्रम से अलग न रक्खेंगे, जिनका मैंने ऊपर ज़िक्र किया है। प्राथमिक शिक्षा की मेरी योजना में तो इन विषयों का समावेश होता ही है। जिस घड़ी हम अपने बच्चों के सिर से एक कठिन विदेशी भाषा को सीखने का बोझ हटा लेंगे, उसी घड़ी से इन विषयों की शिक्षा का प्रबन्ध आसान हो जायगा।

इसमें सन्देह नहीं कि आज हमारे पास शिक्षकों का ऐसा दल नहीं है, जो इस नई पद्धति के अनुसार काम कर सके। लेकिन यह समस्या तो प्रत्येक नये कार्य के साथ उत्पन्न होती ही है। अगर मौजूदा शिक्षक इन सब विषयों को सीखने के लिए तैयार हों, तो उन्हें वैसा मौक़ा दिया जाय। साथ ही यह प्रबन्ध भी किया जाय कि जो इन आवश्यक विषयों को सीख लें, उनके वेतन में तुरन्त ही ठीक ठीक वृद्धि कर दी जाय। प्राथमिक शिक्षा में जिन नये विषयों का समावेश होनेवाला है, उन सबके लिए अलग-अलग शिक्षक रखने की बात तो कल्पना से बाहर की बात है। यह बिलकुल अनावश्यक है, क्योंकि इसमें खर्च बहुत बढ़ जायगा। हो सकता है कि प्राइमरी स्कूलों के कुछ शिक्षक इतने कमज़ोर हों, कि थोड़े समय में वे इन विषयों को सीख ही न सकें। लेकिन जो लड़के मैट्रिक तक पढ़े होंगे, उन्हें संगीत, चित्रकला, क़वायद और हुनर-उद्योग के मूल तत्त्वों को सीखने में तीन महीने से ज्यादा समय न लगाना चाहिए। जब एक बार वे इन विषयों का प्राथमिक ज्ञान प्राप्त कर लेंगे, तो फिर पढ़ाते-पढ़ाते भी अपने इस ज्ञान में बराबर तरक्क़ी कर सकेंगे। लेकिन इसमें शक नहीं कि यह काम तभी हो सकता है, जब शिक्षकों में राष्ट्र के पुनरुत्थान के लिए अपनी योग्यता को बराबर बढ़ाते रहने की आतुरता हो और उत्साह हो!

(हरिजन, ११ सितम्बर, १९३७)

स्वावलम्बी शिक्षा

मद्रास से डॉ० ए० लक्ष्मीपति लिखते हैं:--

"मैंने मिशनरियों द्वारा संचालित कुछ संस्थायें देखी हैं। इनमें मदरसे सिर्फ़ सुबह लगते हैं और शाम को विद्यार्थियों से खेती का अथवा किसी दस्तकारी का काम लिया जाता है। जैसा और जितना जिसका काम होता है, उसके अनुसार उसे मज़दूरी भी दी जाती है। इस प्रकार संस्था को न्यूनाधिक परिमाण में स्वावलम्बी बनाया जाता है। विद्यार्थी जब स्कूल से पास होकर निकलते हैं, तो उन्हें इस बात की चिन्ता नहीं रहती कि कहाँ जायेंगे और क्या करेंगे। क्योंकि कम-से-कम इतनी शिक्षा तो उन्हें मिल ही जाती है, कि वे अपने गुज़र-बसर के लिए कमा-खा लें। सरकारी शिक्षा-विभाग की जो पाठशालायें एक ही ढंग से और नीरस रीति से काम करती हैं, उनके मुक़ाबले इस तरह की पाठशालाओं का वातावरण बिलकुल ही भिन्न होता है। इन पाठशालाओं में लड़के अधिक स्वस्थ पाये जाते हैं। उनको इस बात की खुशी रहती है कि उन्होंने कुछ-न-कुछ उपयोगी काम किया है। उनके शरीर की गठन भी मज़बूत होती है। खेती के मौसम में ये पाठशालायें कुछ समय के लिए बन्द रक्खी जाती हैं; क्योंकि उन दिनों विद्यार्थियों की सारी शक्ति का उपयोग खेती के काम में करना पड़ता है। शहरों में भी जिन लड़कों का रुझान व्यापार-धन्धे की तरफ़ हो, उनको वैसे धन्धों में लगाना चाहिए, जिससे वे अपने काम में विविधता का अनुभव कर सकें। जो लड़के ग़रीब हों, या जो पाठशाला द्वारा अपने भोजन का प्रबन्ध करना चाहते हों, उन्हें सुबह की पढ़ाई के दरम्यान आध घंटे की छुट्टी में एक बार खाने को दिया जाना चाहिए। इस उपाय से ग़रीब लड़के पाठशालाओं में दौड़े-दौड़े आयेंगे और उनके मा-बाप भी उन्हें नियमित रूप से मदरसे जाने के लिए प्रोत्साहित करते रहेंगे।

अगर आधे दिन की पाठशाला की यह योजना मंज़ूर कर ली जाये, तो इन पाठशालाओं में काम करनेवाले कई शिक्षकों का उपयोग गाँव के बालिग़ स्त्री-पुरुषों

की साक्षरता बढ़ाने में किया जा सकता है, और इसके लिए अलग से कुछ खर्च करने की कोई आवश्यकता नहीं रहती है। मकानों का और पढ़ाई के दूसरे सामान का भी इसी तरह उपयोग किया जा सकता है।

मैं मद्रास के शिक्षा मंत्री से मिला हूँ, और मैंने उन्हें एक पत्र भी लिख कर दिया है। इस पत्र में मैंने लिखा है कि हमारी वर्तमान पीढ़ी की गिरती हुई तन्दुरुस्ती का मुख्य कारण पाठशाला का असुविधा जनक समय है। मेरे विचार में, हमारे सभी मदरसों और कॉलेजों की पढ़ाई का समय सुबह ६ से ११ तक होना चाहिए। मदरसों में चार घंटों की पढ़ाई काफ़ी समझी जानी चाहिए। लड़के दुपहर का समय अपने घरों में बितायें, और शाम का खेल कूद, कसरत और क़वायद वग़ैरा में। कुछ लड़के जीविकोपार्जन के काम में और कुछ अपने माता-पिता की सहायता करने में इस समय का उपयोग करें। इस तरीक़े से विद्यार्थी मा-बाप के सम्पर्क में ज़्यादा रहेंगे। मैं समझता हूँ, कि किसी भी धंधे की शिक्षा के लिए अथवा परम्परागत कुशलता के विकास के लिए इस चीज़ की बड़ी ज़रूरत है।

अगर हम इस बात को मान लें कि नागरिकों के शरीर की सुदृढ़ता ही राष्ट्र की सुदृढ़ता का आधार है, तो मेरे सुझाये हुए परिवर्तन, दीखने में क्रान्तिकारी होते हुए भी, हिन्दुस्तान की रहन सहन और यहाँ की आबोहवा के अनुकूल ठहरेंगे, और अधिकांश लोग इनका स्वागत भी करेंगे।"

डॉ० लक्ष्मीपति ने पाठशालाओं की पढ़ाई का समय सिर्फ़ सुबह ही रखने के सम्बन्ध में जो सूचना की है, उसके बारे में शिक्षा विभाग के अधिकारियों से सिफ़ारिश करने के सिवा, मैं और कुछ नहीं कहना चाहता। उन्होंने अपने पत्र में उन संस्थाओं का ज़िक्र किया है जो न्यूनाधिक अंश में स्वावलम्बी हैं। अगर ये संस्थायें अपना कुछ खर्च या पूरा खर्च निकालना चाहती हैं, और विद्यार्थियों को भी समाज के लिए उपयोगी बनाना चाहती हैं, तो सिवा इसके वे और कुछ कर भी नहीं सकतीं। फिर भी मैं देखता हूँ कि मेरी सूचना से कुछ शिक्षा शास्त्रियों को आघात पहुँचा है। वजह इसकी यह है कि आज जो कुछ चल रहा है, उसके सिवा शिक्षा की दूसरी किसी पद्धति का उन्हें पता ही नहीं है। शिक्षा को स्वावलम्बी बनाने का विचार ही उन्हें शिक्षा के सारे महत्त्व को घटानेवाला मालूम होता है। स्वावलम्बन की सूचना में वे केवल अर्थोपार्जन

की दृष्टि को ही मुख्य समझते हैं। आजकल मैं एक पुस्तक पढ़ रहा हूँ, जिसमें यहूदियों के शिक्षा-विषयक एक प्रयोग का वर्णन है। इस पुस्तक में यहूदी पाठशालाओं में दिये जानेवाले उद्योग-धन्धों के शिक्षण के विषय में लेखक ने इस प्रकार लिखा है :

"इसलिए हाथ का काम करने में वे आनन्द का अनुभव करते हैं; इसके साथ ही बौद्धिक काम भी होते रहते हैं, जिससे हाथ की यह मेहनत अखरती नहीं और चूँकि इसके साथ देशभक्ति का आदर्श भी सामने रहता है, इसलिए यह शिक्षा बहुत उदात्त बन जाती है।"

अगर हमें सुयोग्य शिक्षक मिल गये, तो वे हमारे बालकों को शरीर-श्रम का महत्त्व और गौरव समझायेंगे। बालक शरीर श्रम को बुद्धि के विकास का एक अविभाज्य अंग और साधन मानना सीखेंगे और यह समझने लगेंगे कि अपनी मेहनत से अपनी पढ़ाई का खर्च चुकाने में देश की सेवा है। मेरी इन सब सूचनाओं का निचोड़ यह है कि बालकों को जो दस्तकारियाँ सिखाई जायेंगी, वे उनसे किसी प्रकार का उत्पादक काम कराने की मंशा से नहीं, बल्कि उनकी बुद्धि का विकास करने के खयाल से सिखाई जायेंगी। इसमें कोई शक नहीं कि अगर सरकार सात से चौदह बरस की उम्र के बच्चों की पढ़ाई को अपने हाथ में ले, और उत्पादक कार्यों द्वारा उनके शरीर और मन का विकास करे, तो ये पाठशालायें अवश्य ही स्वावलम्बी बननी चाहिएँ। अगर ये स्वावलम्बी नहीं बन सकतीं, तो मैं कहूँगा कि या तो ये पाठशालायें ही नहीं हैं, या इनमें पढ़ानेवाले शिक्षक निरे बेवकूफ हैं।

मान लीजिये कि हरएक लड़का और लड़की यन्त्र की तरह नहीं, बल्कि दिमागी सूझ-बूझ के साथ काम करे, और किसी निष्णात मनुष्य की निगरानी में सबके साथ मिलकर दस्तकारी सीखने में दिलचस्पी दिखाये, तो अपनी पहले साल की पढ़ाई के बाद उनके इस सामुहिक श्रम की क़ीमत फ़ी घंटा एक आना होनी चाहिए; यानी रोज़ चार घंटे के हिसाब से महीने में २६ दिन काम करके हरएक बालक प्रति मास ६।।) रु. कमायेगा। अब सवाल सिर्फ यह है कि ऐसे लाभदायक श्रम में लाखों बालकों को लगाया जा सकेगा या नहीं? एक साल की तालीम के बाद अगर हम अपने बालकों को इस योग्य न बना सकें, कि वे फ़ी घंटा एक आना के हिसाब से काम करके अपनी बनाई चीज़ें बाज़ार में इस भाव से बेच सकें, तो समझना चाहिए कि हमारी बुद्धि का दिवाला निकल गया!

मैं जानता हूँ कि हिन्दुस्तान के गाँवों में देहाती लोग कहीं भी फ़ी घंटा एक आना नहीं कमाते। इसकी वजह यह है कि ग़रीब और अमीर के बीच इस देश में आज जो ज़मीन-आसमान का फ़र्क़ है, उसमें न तो हमें कोई विषमता मालूम होती है, और न वह हमें खटकता ही है। दूसरा कारण यह है कि शहरवाले, शायद अनजान में, गाँवों का शोषण करने में अंग्रेज़ी हुकूमत के साथ मिल गये हैं।

(हरिजन, ११ सितम्बर, १९३७)

शिक्षा-मंत्रियों से—

दक्षिण भारत के एक हाईस्कूल के शिक्षक ने सरकार की ओर से विद्यार्थियों पर लगाये गये कुछ प्रतिबन्धों का वर्णन करते हुए नीचे लिखे अवतरण भेजे हैं :

"नियम ९९ : जिस विद्यार्थी को सरकार के खिलाफ़ किसी भी आन्दोलन में हिस्सा लेने के जुर्म में अदालत से सज़ा हुई है, पहले से सरकार की इजाज़त लिये बिना उसे किसी स्कूल में दाखिल न किया जाय। स्कूल के किसी अफ़सर या नौकर को सरकार के विरुद्ध किसी भी राजनैतिक आन्दोलन में भाग न लेने दिया जाय; उसे ऐसी कोई राय ज़ाहिर न करने दी जाय, जिससे सरकार के विरुद्ध बदगुमानी या बेवफ़ाई के भाव फैलें। विद्यार्थियों को राजनैतिक सभाओं में या किसी भी किस्म के आन्दोलन में शामिल न होने दिया जाय।

१०० : यदि शिक्षक या संचालक ऐसी हरकतें ज़ारी रक्खें या विद्यार्थियों की ऐसी हरकतों को बढ़ावा दें, या बरदाश्त कर लें, तो उन्हें उचित चेतावनी दे देने के बाद शिक्षा-विभाग का डाइरेक्टर उस स्कूल को या तो अमान्य कर देगा, या सरकार की ओर से दी जानेवाली सहायता बन्द कर देगा या उस स्कूल के विद्यार्थियों को सरकारी छात्रवृत्ति की परीक्षाओं में शामिल न होने देगा, और सरकारी छात्रवृत्ति पानेवाले विद्यार्थियों को ऐसे स्कूल में दाखिल होने से रोकेगा।

१०१ : अगर किसी शिक्षक के सार्वजनिक भाषण विद्यार्थियों के सुकुमार मन में सरकार के प्रति अनादर पैदा करनेवाले हों; उनके व्यवस्थित विकास को रोकनेवाले हों; नागरिक के नाते उनकी उपयोगिता को कम करनेवाले हों; विद्यार्थियों के भावी जीवन की प्रगति में बाधा डालनेवाले हों; या शिक्षक खुद विद्यार्थियों को राजनैतिक सभाओं में ले जाय, या जान-बूझकर उन्हें ऐसी किसी सभा में उपस्थित रहने को प्रोत्साहित करे, या करता मालूम पड़े, तो यह समझा जायगा कि वह अपने कर्त्तव्य से चूका है; और उसके खिलाफ़ अनुशासन की कार्रवाई की जायगी।

७९ : धार्मिक पुस्तकों को छोड़कर स्कूल में ऐसी किसी भी पुस्तक का कभी उपयोग न किया जाय, जो सरकार द्वारा स्वीकृत न हो। स्कूलों में किसी पुस्तक या पुस्तकों का उपयोग करने या न करने देने का अधिकार सरकार ने अपने हाथ में रक्खा है।

८० : (इस धारा के अनुसार यह लाज़िमी है कि सभी बालकों को टीका लगा हुआ हो। यद्यपि आजकल इसपर कोई अमल नहीं होता, फिर भी ज़रूरी है कि इसे रद ही करा दिया जाय।)

सरकार द्वारा स्वीकृत स्कूलों पर राष्ट्रीय झण्डा न फहराया जाय। कक्षाओं के अन्दर राष्ट्रीय नेताओं की तसवीरें न लटकाई जायें। जिस स्कूल के विद्यार्थी परीक्षा के समय प्रश्नों के जवाब में राष्ट्रीय विचार प्रकट करें, उन्हें सज़ा दी जाय। ये और ऐसे कई सरकारी गश्ती हुक्म अब तक क़ायम हैं।

सरकार को अब यह तरीक़ा अख्तियार करना चाहिए कि शिक्षक-मण्डलों की राय जाने बिना पाठ्यक्रम में कोई परिवर्तन न किया जाय। मद्रास में एक ऐसा 'दक्षिण-भारत-शिक्षक-मंडल' है। इस मंडल ने पहले की सरकार की उस नीति को निन्दनीय बताया है, जिसके अनुसार चौथे दर्जे की परीक्षा वह खुद लेती थी।

जिन प्रान्तों की मातृभाषा हिन्दी न हो, उनमें इस विषय को अधिक प्रोत्साहन दिलाने के लिए हिन्दी अध्यापकों को दूसरों की अपेक्षा अधिक आर्थिक सहायता दी जानी चाहिए, जिससे इस विषय को स्थान देने में संचालकों का दिल बढ़े। हिन्दी-प्रचारकों को उर्दू लिपि का व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए।

मद्रास सरकार का एक नियम है कि हेडमास्टरों को पाँच वर्ष के अन्दर पाठ्य पुस्तकें न बदलनी चाहिएँ। इस नियम से छात्रों के मा-बाप का कोई आर्थिक लाभ या किफ़ायत नहीं हो सकती। क्योंकि जिनको ऊपर के दर्ज़ों में चढ़ाया जाता है, उन्हें तो नई पुस्तकें खरीदनी ही पड़ती हैं; और जो फेल किये जाते हैं, वे अधिकतर दूसरे मदरसों में दाखिल हो जाते हैं, जहाँ बिलकुल दूसरी ही पाठ्य पुस्तकें होती हैं। इन नियमों की ७९ वीं धारा के कारण कार्य-शक्ति की गति रुकती है, और राष्ट्रीय विचारों की पुस्तकें चुनी नहीं जा सकतीं।

इस आशय की एक सूचना तुरन्त ही दे दी जानी चाहिए कि दो साल के अन्दर हाईस्कूल के सभी दर्ज़ों में मातृभाषा ही शिक्षा का माध्यम बन जाये। छठे दर्ज़े में आजकल के चौथे दर्ज़े के बराबर अंग्रेज़ी सिखाई जानी चाहिए। अंग्रेज़ी की पढ़ाई का समय कम कर देना चाहिए, और उसके ऐच्छिक-वर्ग खोले जाने चाहिएँ। पाँचवीं कक्षा के पहले और दूसरे वर्ग में अंग्रेज़ी के बदले हिन्दी दाखिल की जानी चाहिए, और गणित की पढ़ाई कम कर देनी चाहिएँ। इससे हिन्दी की तरफ यथेष्ट ध्यान दिया जा सकेगा, और आज जो फ़िज़ूल की चीज़ें सिखाई जाती हैं, उनकी जगह हाथ के उद्योगों की सच्ची शिक्षा दाखिल की जा सकेगी।

९९ वीं और १०० वीं दण्डवाली धारायें रद की जायें, और उनके बदले ये तीन नियम बनाये जायें कि हेडमास्टर अपने विद्यार्थियों को प्रत्यक्ष सामाजिक कार्य द्वारा नागरिक कर्त्तव्यों का पालन करने की, सफ़ाई, स्वास्थ्य और आहार-सम्बन्धी ज्ञान की, और वर्तमान समय के राजनैतिक और आर्थिक प्रश्नों की शिक्षा दें। अगर ऐसा किया गया तो अवांच्छनीय और अज्ञानजन्य आन्दोलन अपने आप दब जायेंगे।"

इनमें से अधिकांश रुकावटें तो एक मिनट की भी देर किये बिना हटा दी जानी चाहिएँ। क्या विद्यार्थी और क्या शिक्षक, किसी के भी मन पिंजरों में बन्द न किये जाने चाहिएँ। जो मार्ग शिक्षक को अथवा सरकार को अच्छे-से-अच्छा मालूम होता है, शिक्षक विद्यार्थियों को उसी मार्ग पर ले जा सकता है। इतना कर चुकने पर, फिर उसे कोई अधिकार नहीं रह जाता कि वह अपने विद्यार्थियों के विचारों या भावों को दबाये। इसका यह मतलब नहीं कि विद्यार्थियों पर किसी भी प्रकार का अंकुश ही न हो! बिना नियम-पालन या अनुशासन के तो कोई भी स्कूल नहीं चल सकता।

लेकिन विद्यार्थियों के सर्वतोमुखी विकास पर जो कृत्रिम अंकुश रक्खा जाता है, उसका नियम-पालन या अनुशासन के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। जहाँ जासूसी से काम लिया जाता है, वहाँ तो यह एकदम असम्भव है। सच तो यह है कि आज तक हमारे छात्र जिस प्रकार के वातावरण में रहते आये हैं, वह स्पष्ट ही अराष्ट्रीय रहा है। अब इस तरह का वातावरण मिट जाना चाहिए और विद्यार्थियों को यह समझना चाहिए कि अपने अन्दर राष्ट्रीय भावना को बढ़ाना पाप नहीं, पुण्य है, सदाचार है।

(हरिजन, १८ सितम्बर, १९३७)

राष्ट्रीय शिक्षकों से—

जो किसी भी प्रकार की राष्ट्रीय शिक्षण-संस्थाओं का संचालन कर रहे हैं, उन शिक्षकों से मेरी यह सूचना है कि प्राथमिक शिक्षा के बारे में आजकल मैं जो कुछ लिख रहा हूँ, यदि वह उनके गले उतरता हो, तो वे यथाशक्ति उसपर अमल करें, उसका ठीक-ठीक हिसाब रक्खें, और अपने अनुभव मुझे लिख भेजे। जो मेरी पद्धति के अनुसार पाठशाला चलाने को तैयार हों, इस समय फुरसत में हों, अथवा जिस काम में लगे हुए हैं, उसे छोड़कर इस तरह की पाठशाला का संचालन करने को तैयार हों, वे भी मुझे लिखें।

मैं मानता हूँ कि प्राइमरी स्कूलों को स्वावलम्बी बनाने के लिए हमारी पहली नज़र कताई वगैरा के उद्योग पर ही पड़ती है। इसमें कपास की बिनाई से लेकर बेल-बूटेदार यानी नक्शीदार खादी बनाने तक की क्रियाओं का समावेश हो जाता है। इसके लिए फी-घंटा कम-से-कम दो पैसे की मज़दूरी गिनी जानी चाहिए। स्कूल का काम पाँच घंटे का रहे, जिसमें चार घंटे मज़दूरी के और एक घंटा उस उद्योग के शास्त्र को और दूसरे विषयों को, जो उद्योगों के साथ न सिखाये जा सकते हों, सिखाने का रहे। उद्योग सिखाते समय जो विषय सिखाये जायेंगे, उनमें एक हद तक या पूरी हद तक इतिहास, भूगोल और गणितशास्त्र का समावेश रहेगा। इसमें भाषा के ज्ञान का, उसके अंग-रूप व्याकरण का और शुद्ध-शुद्ध उच्चारण का भी समावेश होगा। क्योंकि शिक्षक उद्योग को सब प्रकार के ज्ञान का वाहन समझेगा और उसके द्वारा बालकों की बोली को शुद्ध और स्पष्ट बनायेगा। इस प्रयत्न में व्याकरण का ज्ञान वह सहज ही करा सकेगा। गिनने की

क्रिया तो बालकों को शुरू से ही सीखनी होगी। अर्थात् ज्ञान का आरम्भ गणित से होगा। सफ़ाई और सुघराई कोई अलग विषय नहीं रहेगा। बालकों के प्रत्येक काम में सफ़ाई और सुघराई होनी ही चाहिए। साफ़-सुथरेपन के साथ ही वे स्कूल में प्रवेश करेंगे। इसलिए इस वक्त मेरी कल्पना में ऐसा एक भी विषय नहीं आता, जो उद्योग के साथ-साथ बालकों को न सिखाया जा सके।

मेरी यह कल्पना ज़रूर है कि जिस प्रकार मैंने सीखने के विषयों को अलग-अलग नहीं माना है, बल्कि सबको एक-दूसरे में ओत-प्रोत समझा है, और सबकी उत्पत्ति एक ही चीज़ से हुई है, उसी प्रकार शिक्षक की कल्पना भी एक ही की है। हरएक विषय के अलग-अलग शिक्षक नहीं होंगे। एक ही शिक्षक होगा। हाँ, साल के हिसाब से ज़रूर अलग-अलग शिक्षक होंगे। यानी अगर सात दर्जे हैं, तो सात शिक्षक रहेंगे। और एक शिक्षक के पास पच्चीस से ज्यादा लड़के न होंगे। अगर शिक्षा अनिवार्य की जाये, तो मैं यह आवश्यक मानूँगा कि शुरू ही से लड़कों और लड़कियों की कक्षायें अलग-अलग रक्खी जायें। क्योंकि अख़ीर में सबको एक ही तरह के धन्धे नहीं सीखने होंगे। इसलिए मैं मानता हूँ कि शुरू से अलग-अलग श्रेणियों का रहना अधिक सुविधाजनक होगा।

इस पद्धति में घंटों की और शिक्षकों की संख्या में, और विषयों की व्यवस्था में, परिवर्तन की गुंजाइश हो सकती है। लेकिन जिस सिद्धान्त को आधार मानकर प्रत्येक शाला का संचालन होगा, उसे अटल समझकर ही मेरी कल्पना की यह पाठशाला चल सकती है। इन सिद्धान्तों को कार्यरूप में परिणत करके किसी प्रकार के मूर्त्त परिणाम अभीतक चाहे न बताये जा सके हों, लेकिन जो मंत्री इस प्रकार की शिक्षा को शुरू करना चाहते हैं, उनको इन सिद्धान्तों पर अवश्य ही श्रद्धा होनी चाहिए। चूँकि इस श्रद्धा का आधार बुद्धि होगी, इसलिए इसका स्वरूप अन्धश्रद्धा का नहीं, ज्ञानमयी श्रद्धा का होगा। ये सिद्धान्त दो हैं—(१) शिक्षा का वाहन कोई भी ग्रामोपयोगी उद्योग हो। और, (२) सब मिलाकर शिक्षा स्वावलम्बी हो, अर्थात् शुरू के एक-दो साल कुछ कम स्वावलम्बी भले हो, लेकिन सात साल की औसत निकालने पर आमदनी और खर्च का हिसाब बराबर होना चाहिए। मैंने इस शिक्षा के लिए सात साल माने हैं, लेकिन इनमें घट-बढ़ हो सकती है।

(हरिजनबन्धु, १९ सितम्बर, १९३७)

बम्बई में प्राथमिक शिक्षा

अबतक मैंने जो चर्चा की है, वह गाँवों की शिक्षा के विषय में की है। क्योंकि वही सारे हिन्दुस्तान का प्रश्न है। यदि यह सीधी तरह हल हो सके, तो शहरों की कोई खास कठिनाई न रह जाये। शहरों के विषय में मैंने अबतक इसी वजह से कुछ नहीं लिखा। लेकिन शिक्षा में रस लेनेवाले बम्बई के एक नागरिक का नीचे लिखा प्रश्न उत्तर की अपेक्षा करता है :

"प्राथमिक शिक्षा के भारी खर्च का कोई रास्ता निकालने में इस समय कांग्रेसी मंत्रि-मण्डल यत्नशील मालूम होता है। यह सुझाया गया है कि शिक्षा का खर्च शिक्षा ही से निकल सकता है। बम्बई-जैसे शहर में इस दिशा में किस तरह और किस हद तक बढ़ा जा सकता है, इसकी चर्चा आवश्यक मालूम होती है। कहा जाता है कि इस साल बम्बई कॉरपोरेशन ने शिक्षा पर क़रीब ३५-३६ लाख रुपया खर्च करने का बजट बनाया है, और अगर सारे शहर में शिक्षा को अनिवार्य कर दिया जाये, तो इस खर्च में कई लाख रुपयों की रकम और बढ़ जाये। शिक्षकों के वेतन में और किराये में क्रमशः बीस लाख और चार लाख से ज्यादा रक़म खर्च होती है। फ़ी विद्यार्थी सालाना खर्च की औसत ४० से ४२ रुपये तक आती है। अगर विद्यार्थी अपनी पढ़ाई के साथ-साथ साल में इतने रुपयों का काम भी करके दें, तभी शिक्षा का खर्च शिक्षा से निकल सकता है। लेकिन यह होगा किस तरह ?"

मेरा तो दृढ़ विश्वास है कि अगर बम्बई के स्कूलों में भी उद्योग के तत्त्व को स्थान दिया जाय, तो उससे बम्बई के बालकों को और बम्बई शहर को फ़ायदा ही पहुँचेगा। शहर में पले-पुसे बालक तोते की तरह कविता रटेंगे और सुनायेंगे; नाचेंगे; हाव-भाव और अभिनय करके दिखा देंगे; बैंड-बाजे बजा सकेंगे; कसरत-क़वायद और कूच करना जानेंगे; इतिहास और भूगोल के प्रश्नों का उत्तर देंगे और थोड़ा-

बहुत अंकगणित भी जान लेंगे। लेकिन इससे आगे वे न बढ़ सकेंगे। हाँ, एक बात मैं भूला; वे थोड़ी अँग्रेज़ी भी ज़रूर जानते होंगे। लेकिन एक टूटी हुई कुर्सी को दुरुस्त करना, या फटे हुए कपड़े को सी लेना, उनके लिए मुश्किल होगा। वे इसे नहीं कर सकेंगे। ऐसे मामलों में हमारे शहरों के लड़के जितने अपंग या निकम्मे पाये जाते हैं, उतने अपंग लड़के दक्षिण ऑफ़्रिका और इंग्लैण्ड की अपनी यात्राओं में मैंने कहीं नहीं देखे।

इसलिए मैं तो मानता ही हूँ कि अगर शहरों में भी उद्योग द्वारा शिक्षा दी जाये, तो उससे बालकों को बेहद लाभ होगा। और, पूरे ३५ लाख रुपये नहीं, तो उनका एक बड़ा हिस्सा ज़रूर बच रहेगा। ४२ के बदले फ़ी बालक साल के ४० रु० का खर्च भी मान लें, तो यह कहा जा सकता है कि बंबईवाले ८७,५०० बालकों को पढ़ाते हैं। अगर १० लाख की बस्ती हो, तो बालकों की संख्या कम-से-कम डेढ़ लाख होनी चाहिए। इसका मतलब यह हुआ कि लगभग ६२,००० बालक बिना शिक्षा के रह जाते हैं। अगर यह मान लें कि ये सब ग़रीब नहीं हैं, और बहुतेरे खानगी मदरसों में जाते हैं, तब भी ५६,००० बालक रह जाते हैं। इनके लिए आज के हिसाब से २२,२४०००) रुपयों की ज़रूरत होगी। बंबई कब तो इतने रुपयों का प्रबन्ध करे, और कब इन सब बालकों को पढ़ावे? और क्या पढ़ावे?

मैं मानता हूँ कि शिक्षा अनिवार्य और मुफ्त होनी ही चाहिए। लेकिन बालकों को उपयोगी उद्योग सिखाकर उसके द्वारा ही उनके शरीर और मन का विकास किया जाना चाहिए। मैं इसमें भी पैसे का जो हिसाब लगाता हूँ, वह अनुपयुक्त न समझा जाना चाहिए। अर्थशास्त्र नैतिक और अनैतिक, दोनों प्रकार का होता है। नैतिक अर्थशास्त्र के दोनों पहलू एक-से होते हैं, जब कि अनैतिक में जिसकी लाठी उसकी भैंसवाली बात होती है। उसके विस्तार का सारा दारोमदार उसकी ताक़त पर है। अनैतिक अर्थशास्त्र जिस तरह घातक है, उसी तरह नैतिक आवश्यक है। इसके अभाव में धर्म की परख को और उसके पालन को मैं असम्भव समझता हूँ।

मेरा नैतिक शास्त्र मुझे ज़रूर ही यह सुझाता है कि बम्बई के बालक हर महीने हँसते-खेलते तीन रुपये का काम करके दें। अगर चार घंटे काम करें और हर घंटे के दो पैसे भी धर लें, तो महीने के २५ दिनों में वे ५० आने का काम करेंगे, यानी हर महीने स्कूल में रहकर रु० ३-२-० कमा लेंगे।

यह मानने की कोई वजह नहीं मालूम होती कि जब शिक्षा के ढंग पर उद्योग सिखाया जायेगा, तो बालक काम के बोझ से दब जायेंगे। नाम-मात्र के शिक्षक तो इतिहास, भूगोल-जैसे सरल और दिलचस्प विषयों को भी ऐसे ढंग से सिखाते हैं, कि लड़कों का दिल ऊबने लगता है। लेकिन मैंने अपनी आँखों देखा है, कि जो सच्चे शिक्षक होते हैं, वे अपने शिष्यों को हँसते-खेलते उद्योग सिखाते हैं। मैं आशा रखता हूँ कि कोई मुझसे यह सवाल न करेगा कि ऐसे शिक्षक कहाँ से आयेंगे। एक बार जब किसी चीज़ को हम करने योग्य मान लेते हैं, तो फिर उसके करनेवालों को तैयार करना सहज ही उन व्यक्तियों और संस्थाओं का धर्म हो जाता है, जो उस चीज़ में मानती हैं। इसमें शक नहीं कि ऐसे शिक्षकों को तैयार करने में थोड़ा समय चला जायगा। लेकिन आजकल के अनुपयुक्त शिक्षण के निर्माण में और उसके लिए शिक्षक तैयार करने में जितना समय खर्च हुआ है, उसका शतांश भी इसमें खर्च नहीं होगा। और पैसे का खर्च तो उसके मुक़ाबले कम होगा ही। अगर बंबई शहर की म्युनिसिपैलिटी का कारोबार मेरे हाथ में हो, तो मैं ऐसे शिक्षा-शास्त्रियों की एक छोटी-सी समिति स्थापित करूँगा, जिन्हें मेरी कल्पना में थोड़ी भी श्रद्धा है, और उनसे यह आशा रक्खूँगा कि वे एक महीने के अंदर अपनी योजना बनाकर दें, ताकि तुरन्त ही उसे अमल में लाया जा सके। इसमें यह विश्वास अवश्य आ जाता है कि मुझे अपनी इस कल्पना की शक्यता में अटल श्रद्धा है। उधार ली हुई श्रद्धा से आजतक कोई अच्छे और बड़े काम नहीं हुए।

एक प्रश्न रह जाता है। शहरों में कौनसे उद्योग सहूलियत के साथ सिखाये जा सकते हैं? मेरे पास तो इसका उत्तर भी तैयार ही है। मैं हिन्दुस्तान के गाँवों को सबल और सुपुष्ट देखना चाहता हूँ। आजकल तो गाँव शहरों के लिए जीते हैं। उनपर निर्भर करते हैं। यह अनर्थ है। शहर गाँवों पर निर्भर करने लगें, अपने बल को गाँवों से प्राप्त करें, अर्थात् गाँवों से लाभ उठाने के बदले स्वयं गाँवों को लाभ पहुँचायें, तो हमारा मतलब सिद्ध हो और अर्थशास्त्र नैतिक बने। ऐसे शुद्ध अर्थ की सिद्धि के लिए शहरी बालकों के उद्योग का देहाती बालकों के साथ सीधा सम्बन्ध होना चाहिए। इसके लिए इस समय, मुझे जो कुछ सूझ रहा है, सो तो पिंजाई से लेकर कताई तक के उद्योग हैं। आज भी कुछ इसी तरह हो रहा है। गाँवों से कपास आता है, और मिलों में कपड़ा बुना जाता है। इसमें शुरू से अखीर तक धन की बरबादी की जाती है। कपास ज्यों-त्यों बोया जाता है, जैसे-तैसे बिना जाता है और उसी ढंग से साफ़ भी किया जाता है।

किसान इस कपास को अधिकतर घटी सहकर राक्षसी जीनों में बेचते हैं; वहाँ बिनौले अलग होते हैं, कपास कुचला और अधमरा किया जाता है और फिर वह गाँठों में बँध-कर मिलों में पहुँचाया जाता है। वहाँ वह धुना जाता है, कतता है और बुना जाता है। ये सारी क्रियायें इस तरह होती हैं, कि कपास के सत्त्व को जलाकर उसे निर्जीव बना देती हैं। मेरी इस भाषा से कोई द्वेष न करे। कपास में जीव तो है ही। इस जीव के प्रति मनुष्य या तो कोमलता का व्यवहार करता है, या राक्षसी। आजकल के व्यवहार को मैं राक्षसी व्यवहार मानता हूँ।

कपास की कुछ क्रियायें गाँवों और शहरों, दोनों में, हो सकती हैं। ऐसा होने पर ही शहर और गाँव का सम्बन्ध नैतिक और शुद्ध बन सकता है। इससे दोनों की वृद्धि होती है, और आजकल की अव्यवस्था, भय, शंका और द्वेष या तो निर्मूल हो जाते हैं, या निस्तेज पड़ जाते हैं। इस प्रकार गाँवों का पुनरुद्धार हो सकता है। इस कल्पना को अमली रूप देने में बहुत थोड़े खर्च की ज़रूरत रहती है। बड़ी आसानी से इसे मूर्त्तरूप दिया जा सकता है। परदेशी बुद्धि या परदेशी यंत्रों की आवश्यकता नहीं रहती। देश की अलौकिक या असाधारण बुद्धि भी आवश्यक नहीं होती। देश में एक ओर घोर ग़रीबी और दूसरी ओर अमीरी का जो दौर चल रहा है, वह मिट सकता है। दोनों में मेल हो सकता है। और लड़ाई-झगड़े का व खून-खराबी का जो डर हमेशा हमपर सवार रहता है, वह दूर हो सकता है। लेकिन बिल्ली के गले में घंटी कौन बाँधे? बम्बई कॉरपोरेशन का दिल मेरी कल्पना की ओर किस तरह रुजू हो? बनिस्बत इसके कि यहाँ सेगाँव में बैठे-बैठे मैं इसका जवाब दूँ, इस पत्र के लेखक, बम्बई के यह विद्याप्रेमी नागरिक ही ज्यादा अच्छी तरह दे सकते हैं।

(हरिजन-बन्धु, २६ सितम्बर, १९३७)

अनपढ़ बनाम पढ़े-लिखे

बम्बई से एक सज्जन लिखते हैं :

"कॉरपोरेशन को मौजूदा सरकार ने सलाह दी है कि वह अपने मताधिकार के क्षेत्र को बढ़ावे। आज उन बालिग़ों को मत देने का हक़ है, जो हर महीने पाँच रुपया किराया देते हैं। सिफ़ारिश यह की गई है, कि जो पढ़ना-लिखना जानते हैं, उनको भी मताधिकार दिया जाय। अब प्रश्न यह है कि 'कॉन्स्टीट्यूएण्ट असेम्बली' के लिए बालिग़ों को मताधिकार देने की शर्त्त है; ऐसी दशा में यदि महासभा के सदस्य शिक्षितों के मताधिकार से ही सन्तुष्ट हो जायें, तो क्या इससे महासभा के सिद्धान्त का त्याग न होगा? मेरी तरह कुछ लोग ऐसे हैं, जो मानते हैं कि इस समय शिक्षितों के मताधिकार तक ही बढ़ने में भलाई है। उनका क्या धर्म हो सकता है?"

जहाँ तक इस प्रश्न का सीधा सम्बन्ध कांग्रेस के अनुशासन से है, वहाँ तक इस पर राय देने का मुझे कोई हक़ नहीं। हाँ, एक पत्रकार के नाते मेरे किये हुए अर्थ को जो महत्त्व प्रश्नकर्ता देंगे, उससे अधिक महत्त्व मैं इसे न दूँगा। इसके लिए तो, कांग्रेस के सभापति जो कहेंगे, वही पर्याप्त और लाज़िमी होगा। लेकिन एक पुराने अनुभवी के नाते इस सम्बन्ध में अपनी जो राय मैं रखता हूँ, उसे प्रश्नकर्ता के लिए और उसके-जैसे दूसरे लोगों के लिए यहाँ देता हूँ। मैं मानता हूँ कि जिनमें कांग्रेस द्वारा सुझाये हुए सभी कामों को करने की ताक़त नहीं है, या जो समझते हैं कि सब कामों के लिए यह समय अनुकूल नहीं है, वे महासभा की दिशा में चलते हुए जितना आगे बढ़ सकें, निःसंकोच बढ़ें। इस तरह आगे क़दम बढ़ाना उनका धर्म है, और इसमें किसी भी प्रकार से अनुशासन का भंग नहीं होता!

गुण-दोष की दृष्टि से सोचते हुए मुझे ऐसा प्रतीत होता है, कि मताधिकार के क्षेत्र को बढ़ाते समय उसे शिक्षितों तक ही मर्यादित रखना ज़रा भी उचित नहीं है। हो सकता है कि २१ वर्ष का एक सुशिक्षित नौजवान बिलकुल ही मताधिकार के लायक न हो; जब कि ५० वर्ष का एक अनुभवी और दाना, लेकिन अनपढ़ मनुष्य मताधिकार के महत्त्व को समझता हो; और, यह भी सम्भव है कि उसके मत द्वारा, जो कुछ मिल सके, वह महत्त्वपूर्ण हो। ऐसा प्रतिदिन हो भी रहा है। महासभा ने बालिग़ मताधिकार की जो हिमायत की है, उसमें भी कई बातें गर्भित हैं। मेरा दृढ़ विश्वास है कि बालिग़ होते हुए भी वे लोग मताधिकार का उपभोग नहीं कर सकते, जो बहरे, गूँगे, घोर अज्ञानी, पागल, गुप्त या खानगी रूप से अपराध करने-वाले और असाध्य रोगों से पीड़ित हैं।

फिर, यह मान लेने की कोई वजह नहीं है कि जिन्होंने लिखने-पढ़ने की योग्यता प्राप्त की है, उन्होंने कोई ख़ास पुरुषार्थ किया है। मैं यह कहने को तैयार नहीं हूँ कि जो आजतक पढ़ नहीं सके, अपने अज्ञान के लिए वे स्वयं ही ज़िम्मेदार हैं। असल में तो इन करोड़ों के अज्ञान की जड़ मध्यम श्रेणी के लोगों की उपेक्षा में है। उन्होंने आजतक अपने धर्म का पालन नहीं किया। इसीसे हिन्दुस्तान में अनपढ़ों की संख्या बहुत ज्यादा रही है। इसलिए मेरी दृष्टि में तो यह दुगुना दोष है, कि सरकार की कृपा से अबतक जो शिक्षा पा सके हैं, उनको तो मताधिकार दिया जाये और जो उसकी अवकृपा से शिक्षा नहीं पा सके, उन्हें मताधिकार से वंचित रक्खा जाये! जिन अनपढ़ों को मताधिकार दिया जायेगा, उनको जल्दी-से-जल्दी पढ़ाना सरकारी अधिकारियों का धर्म हो जायेगा। इससे एक ओर तो जिन्हें पहले से ही मताधिकार मिल जाना चाहिए था, उनको वह अधिकार न देने का प्रायश्चित्त हो जायेगा, और दूसरी ओर इस बात का प्रोत्साहन मिलेगा कि जिन्हें मताधिकार मिला है, उन्हें पढ़ा-लिखाकर इस योग्य बना दिया जाये कि वे अपने मत का अच्छी तरह उपयोग कर सकें।

(हरिजन-बन्धु, ३ अक्तूबर, १९३७)

आगामी शिक्षा-परिषद्

कुछ समय हुआ, वर्धा के 'मारवाड़ी विद्यालय' ने 'नवभारत विद्यालय' का नया नाम धारण किया है। यह विद्यालय अपनी रजत-जयंती मनाने जा रहा है। विद्यालय के संचालकों को यह सूझा कि इस अवसर पर राष्ट्रीय विचारवाले शिक्षा-शास्त्रियों की एक छोटी परिषद् बुलाई जाय, और शिक्षा की जिस योजना को मैं इस पत्र में समझाने की चेष्टा कर रहा हूँ, उसपर चर्चा करवाई जाय। विद्यालय के मंत्री श्री श्रीमन्नारायण अग्रवाल ने ऐसी परिषद् की उपयोगिता और आवश्यकता के बारे में मेरी राय जाननी चाही, और यह माँग पेश की कि अगर मुझे यह विचार पसंद हो, तो परिषद् का सभापति भी मैं ही बनूँ। मुझे दोनों सूचनायें जँचीं। अतएव यह परिषद् वर्धा में आगामी तारीख २२ और २३ अक्तूबर '३७ को होगी। परिषद् के लिए जिनके पास निमंत्रण पहुँचेंगे, वेही इसमें हाज़िर रहेंगे। यदि कोई शिक्षा-शास्त्री ऐसे हों, जिन्हें परिषद् में शामिल होने की इच्छा होते हुए भी निमंत्रण न मिले हों, तो वे मंत्री से विनती करें, और साथ ही अपना नाम, पता और दूसरी आवश्यक जानकारी लिख भेजें, ताकि निमंत्रण भेजने-न-भेजने के बारे में मंत्री अपना निश्चय कर सकें। जिन्हें इस प्रश्न से ख़ास दिलचस्पी है, और जो इसकी चर्चा में उपयोगी सलाह दे सकते हैं, ऐसे गिने-चुने लोगों की बहुत छोटी संख्या के लिए ही यह प्रबन्ध किया जा रहा है।

परिषद् के सिलसिले में किसी प्रकार का ठाठ-बाट या प्रदर्शन करने की ज़रा भी इच्छा नहीं है। दर्शक के रूप में भी किसी को नहीं आने दिया जायेगा। परिषद् सिर्फ़ काम-काज के लिए ही होगी। समाचार-पत्रों के प्रतिनिधियों के लिए गिनती के टिकट ज़ारी किये जायेंगे। पत्रकारों को मेरी सलाह है, कि वे अपने एक-दो प्रतिनिधि चुन लें, और उनसे जो ख़बरें मिलें, उनका उपयोग कर लें।

मैं इस काम को श्रद्धा के साथ और अत्यन्त नम्रता-पूर्वक अपने सिर ले रहा हूँ। मेरे मन में इस तरह का कोई आग्रह नहीं है, कि मेरे विचार ही सच हैं, और दूसरों के झूठ। मैं तो जो कुछ भी नया सीखने को मिले, उसे सीखने की, और जहाँ आवश्यक मालूम हो, अपने विचारों को बदलने की या सुधारने की इच्छा रखता हूँ।

परिषद् के सामने जो सूचनायें मैं चर्चा के लिए पेश करना चाहता हूँ, वे जैसी इस समय मुझे सूझ रही हैं, इस प्रकार हैं।

(नोट:—ये सूचनायें अन्यत्र परिषद् के कार्य-विवरण के आरम्भ में **गांधीजी के प्रस्ताव** शीर्षक से पृष्ठ १७-१८ पर दी गई हैं।)

स्वावलम्बी पाठशालायें

"हमारी वर्तमान आर्थिक स्थिति का मुख्य स्वरूप यह है कि देश की साधन-सामग्री पर आधार रखनेवाले लोगों की संख्या का बोझ बढ़ता जाता है। उदाहरण के लिए हिन्दुस्तान में ऐसे विशाल भू-भाग नहीं हैं, जिनका पता अबतक न लगाया गया हो। इसी तरह हमारे देश में उपनिवेशों की और पूँजी की भी अधिकता नहीं है। इसलिए हमारी मौजूदा साधन-सामग्री से तैयार माल पैदा करने का काम उन्हीं लोगों को सौंपा जाना चाहिए, जिन्होंने इसकी खास शिक्षा पाई हो। अगर १०० आदमी ज़मीन के सौ अलग-अलग टुकड़ों को जोतते हैं, तो सिर्फ ५० आदमियों की ज़रूरत को पूरा करनेवाला अनाज पैदा करते हैं। लेकिन अगर ये सभी टुकड़े मिला दिये जायें और २० निष्णात आदमी इनपर खेती करें, तो यही ज़मीन १०० आदमियों का निर्वाह कर सकती है। आजकल ऐसे आविष्कार हुए हैं, जिनसे मज़दूर के गृह-जीवन को अस्तव्यस्त किये बिना, और उसकी स्वतन्त्रता को कुचले बिना, उसकी उत्पादन-शक्ति बढ़ाई जा सकती है। इसलिए अब इस बात की खास ज़रूरत पैदा हो गई है कि अधिक लोगों

को काम करने से रोका जाय। ५० साल की उमर के बाद लोगों को पेंशन दे देने के रिवाज से बहुत नुकसान हो रहा है; क्योंकि साधारण मनुष्य की मानसिक और शारीरिक शक्ति का इस उमर के बाद ही अधिकाधिक विकास होता है। इसलिए मुनासिब तो यह है, कि जबतक लोग पूरी तालीम पाकर तैयार न हो जायें, उन्हें गृह-जीवन में प्रवेश करने से रोका जाय!

"हिन्दुस्तान की अवनति का मुख्य कारण यह है, कि यहाँ मज़दूर अपने जीवन का आरम्भ बहुत ही पहले करते हैं। बढ़ई अपने लड़के को अपने धन्धे में इतनी जल्दी दाखिल करता है कि लड़का १२ वर्ष की उमर में अपनी उपार्जन-शक्ति की चरम सीमा तक पहुँच जाता है। इसके बाद वह शादी करता है, और कुछ ही समय के अन्दर अपना धन्धा शुरू कर देता है। इसके कारण उत्पादन और विभाजन के नये तरीके उसके दिमाग़ में उतर ही नहीं पाते। उसको इस बात की कोई तमीज़ नहीं होती कि आर्थिक दृष्टि से उसकी मज़दूरी का क्या महत्त्व है। कोई भी आदमी ऐसे कारीगर को धोखा दे सकता है, और उसका शोषण कर सकता है। वह अपनी छोटी-सी संकुचित दुनिया में कुएँ के मेंढक की तरह जीता है, और किसी तरह अपना गुज़र-बसर करने और परिवार को बढ़ाने में सन्तुष्ट रहता है। हिन्दुस्तान में जो संकुचितता, सन्तोष-प्रियता, भाग्यवाद, जाति-पाँति के बन्धन और शराब और अफीम के व्यसन पाये जाते हैं, उन सबकी जड़ में यही चीज़ है। मैं जब लंका में चाय के बग़ीचे देखने गया, तो सबसे ज्यादा दुःख मुझे वहाँ बालकों को मज़दूरी करते देखकर हुआ। मदरसे तो वहाँ थे, लेकिन मा-बाप का झुकाव लड़कों से मज़दूरी कराने की तरफ़ ज्यादा देखा। बड़ों की पुश्त हमेशा आनेवाली छोटी पुश्त की तरफ़ के अपने कर्त्तव्य को, बला की तरह, सिर से टालना चाहती है। सरकार का काम है, कि वह उन प्रवृत्तियों को रोके, जो व्यक्तियों के लिए फ़ायदेमन्द होते हुए भी समाज के लिए नुकसानदेह हों। लंका-जैसे देश में, जहाँ प्राकृतिक साधनों के भण्डारों का पता लगाकर उनका उपयोग करने के लिए लोगों की पर्याप्त आबादी नहीं है, बालकों से मज़दूरी कराने की प्रथा का बचाव नहीं किया जा सकता; तो हिन्दुस्तान में, जहाँ बालकों से काम लेने पर बड़ों की बेकारी बढ़ती है, इसका बचाव हो ही कैसे सकता है?

"हमें इस भ्रम में न रहना चाहिए कि माल तैयार करके बाज़ार में बेचनेवाली कारखानेनुमा स्वावलम्बी पाठशालायें कभी शिक्षा का काम भी करेंगी। प्रत्यक्ष व्यवहार में तो यह क़ानून-सम्मत बाल-मज़दूरी ही सिद्ध होगी। उदाहरण के लिए, जब किसी मदरसे

में कताई दाखिल की जायेगी, तो वहाँ चर्खे का चलाना या सूत का कातना एक यान्त्रिक क्रिया बन जायेगी। मेरी समझ में यह बात नहीं आती, कि एक थान के लिए जितना सूत आवश्यक है, उस सूत को गिनने से गणित सीखा जा सकता है; अथवा रुई के विकास और सुधार को देखकर विज्ञान और भूगोल सिखाया जा सकता है। ये चीज़ें एकाध बार तो मन को सतेज कर सकती हैं, लेकिन अगर वर्षों तक येही ज़ारी रहें, तो मन की बाढ़ रुक जाये, और वह एक ठहरी हुई लीक पर काम करने लग जाय। मैं मानता हूँ कि आँख, कान, हाथ वग़ैरा की तालीम बहुत ज़रूरी है, और यह भी मानता हूँ कि शरीरश्रम को सभी स्कूलों में लाज़िमी कर देना चाहिए। लेकिन हमें यह न भूलना चाहिए कि जिसे हम हाथ की तालीम कहते हैं, वह असल में दिमाग़ की ही तालीम होती है। किसी भी स्कूल को, जो बच्चों को शिक्षा देना चाहता है, बाज़ार में बिक्री के लिए माल तैयार करने का विचार छोड़ ही देना चाहिए। उसका फ़र्ज़ है कि वह बच्चों को तरह-तरह का कच्चा माल और यंत्र दे, जिनपर प्रयोग करके बालक थोड़ी नुकसानी भी करें तो हर्ज़ नहीं। बिगाड़ या नुकसान तो होगा ही। श्री नरहरि परीख ने हरिजन आश्रम, साबरमती की लड़कियों की कताई के कुछ आँकड़े दिये हैं। सावधानी के साथ इन आँकड़ों का अध्ययन करने से पता चलता है, कि जो स्कूल एक ही काम को लेकर बैठ जाता है, और जिसमें बड़ी उमर के तालीमयाफ्ता बालक होते हैं, उसमें भी नुकसान तो ठीक-ठीक होता है। उद्योग-धन्धों की शिक्षा देनेवाले स्कूल वैज्ञानिक कॉलेजों की तरह प्रयोग करने और साधन-सामग्री को बिगाड़ने की जगह हैं। हिन्दुस्तान-जैसे ग़रीब देश को तो ऐसे स्कूल कम-से-कम, और सिर्फ़ उतने ही खोलने चाहिएँ, जितने ज़रूरी हों, और सो भी कुछ चुने हुए बड़े-बड़े केन्द्रों में। अगर गोरखपुर और अवध के लड़कों को चुनकर चमड़ा कमाने का काम सीखने के लिए कानपुर भेजा जाये, तो उससे राष्ट्र की कोई हानि न होगी। लेकिन अगर उद्योग-धन्धे सिखानेवाली असंख्य पाठशालायें खोली जायेंगी, तो उनसे नुकसान हुए बिना न रहेगा।

"एक दूसरे प्रकार का नुकसान भी है, जो आमतौर पर ध्यान में नहीं आता। एक रतल रुई से अगर बड़ी उमर का कुशल मज़दूर चार आदमियों के उपयोग का कपड़ा बना सकेगा, तो उतनी ही रुई से अनघड़ या गँवार मज़दूर मुश्किल से दो की ज़रूरत का कपड़ा बना पायेगा। इसका मतलब यह हुआ कि हिन्दुस्तान की कपड़े की

ज़रूरत को पूरा करने के लिए आजकल की अपेक्षा दूनी जगह में कपास की खेती करनी होगी। दूसरे शब्दों में, इसीको यों कह सकते हैं, कि अगर अनपढ़ मज़दूरों से काम लिया जाये, तो कपड़े की ज़रूरत को पूरा करने के लिए हिन्दुस्तान को जितनी ज़मीन में कपास की खेती करनी पड़ेगी, उतनी ज़मीन में हिन्दुस्तान की अन्न और वस्त्र, दोनों की आवश्यकताओं को पूरा करनेवाला अनाज और कपास पैदा हो सकता है; बशर्ते कि सारा काम कुशल मज़दूरों या किसानों से कराया जाये।

"इस नुकसानी का तीसरा पहलू भी ध्यान देने योग्य है। कहा जाता है कि स्कूल में बालक तरह-तरह की सुन्दर चीज़ें बना सकते हैं। कुछ दिनों पहले एक उद्योग-शाला में सीखे हुए लड़के को मैंने 'प्लाय वुड' से खिलौना बनाते देखा था। वह जिस लकड़ी का और जिन औज़ारों का उपयोग कर रहा था, सो सब विदेशी थे। ऐसे उद्योग परदेशी माल की नई माँग या खपत हमारे यहाँ पैदा करते हैं। इसपर कोई कह सकता है कि हम अपना 'प्लाय वुड' खुद तैयार कर सकते हैं; लेकिन अमेरिका की तरह हिन्दुस्तान में इतनी फ़ाज़िल ज़मीन नहीं है, कि हम इन झाड़ों को उगा सकें। अगर कच्चे माल का और पूँजी का उपयोग बेकार चीज़ों के बनाने में होता है, तो उसे रोकना चाहिए, न कि उत्तेजन देना चाहिए।

"स्कूलों और कॉलेजों में जो सुकुमारमति बालक पढ़ते हैं, वे रुपया-आना-पाई और नफे-नुक़सान की दुनिया में नहीं, बल्कि विचारों और आदर्शों की सृष्टि में विहार करते हैं। ऐसी सुकुमार अवस्था में अगर उनके सामने माल पैदा करने, बेचने और पैसा खड़ा करने का आदर्श रक्खा जायेगा, तो उससे बच्चों का विकास रुकेगा, और आज संसार में दौलत के उमड़ते दरिया के बीच लोगों को जिस ग़रीबी में रहना पड़ता है, वह बहुत अधिक बढ़ जायगी। यहाँ यह जानने योग्य बात है कि श्री रामकृष्ण उद्योग-धन्धों की शिक्षा को कोई महत्त्व नहीं देते थे।

"मैं तो इसे भी एक अजीब-सा भ्रम ही समझता हूँ, कि हम अपने यत्नों से शिक्षा की गति को बढ़ा सकते हैं, यानी बालक जिस चीज़ को आज सात बरस में सीखता है, उसे दो वर्ष में सिखा सकते हैं। बच्चों का दिमाग़ खाली बोतल की तरह नहीं होता, कि उसमें जो कुछ भरना हो, भरा जा सके। जिस चीज़ को बालक १६ वें वर्ष ही में सीख सकता है, उसे ८ वें साल में सीखने की कोशिश

वह नहीं कर सकता और न उसे करना चाहिए। यह कहना ठीक नहीं है कि विदेशी भाषा के कारण इतनी देर लगती है। फिर, जितना लोग समझते हैं, उतना समय इस विषय को दिया भी नहीं जाता। निबन्ध-लेखन की शिक्षा मस्तिष्क और भावना की शिक्षा है। इस तरह की शिक्षा धीमी ही हो सकती है। मस्तिष्क का विकास करने के लिए जिन साधनों और तरीक़ों का उपयोग किया जाता है, सम्भव है वे अनुत्पादक, हानिकारक और धीमे मालूम पड़ें। लेकिन याद रखना चाहिए कि शिक्षा का उद्देश्य मन को बलवान बनाना और जीवन में उसे जिस प्रकार के समझौते करने पड़ते हैं, वैसे समझौते करना सिखाना है। हमें यह आशा न रखनी चाहिए, कि हम पाठशालाओं में मनुष्यों के उपरान्त माल भी पैदा करके दें।

"इस सबका सार यह है कि जिस नीति से हमारी पाठशालायें सम्पन्न, किन्तु राष्ट्र दिवालिया बनता है, वह नीति संकुचित दृष्टिवाली है, और उसका अर्थशास्त्र झूठा अर्थशास्त्र है।

'एक अध्यापक' "

यह लेख एक प्रसिद्ध विश्वविद्यालय के एक अध्यापक का है। लेख के साथ जो चिट्ठी आई है, उसपर लेखक के हस्ताक्षर हैं। लेकिन इस लेख के नीचे उन्होंने अपना नाम नहीं दिया है, इसलिए मैं भी उनका नाम प्रकट नहीं कर रहा हूँ। पाठकों को लेख से मतलब है, उसके लेखक से नहीं। यह लेख इस बात का एक ज्वलन्त उदाहरण है, कि जो कल्पनायें मनुष्य के मन में गहरी जड़ जमा लेती हैं, उनसे उसकी दृष्टि कैसी धुँधली पड़ जाती है। प्रस्तुत लेखक ने मेरी योजना को समझने का कष्ट नहीं उठाया। मेरी कल्पना के मदरसे के विद्यार्थियों की तुलना उन्होंने लंका के चाय के बगीचों-वाले उन लड़कों से की है, जो आधी आध गुलामी में रहते हैं। ऐसा करके उन्होंने अपनी बुद्धिमत्ता का प्रदर्शन ही किया है। वे भूल जाते हैं, कि बग़ीचों में काम करने-वाले लड़कों को कोई विद्यार्थी नहीं समझता। उन्हें जो मज़दूरी मिलती है, वह उनकी शिक्षा का अंग नहीं होती। मैं जिस प्रकार की पाठशालाओं की हिमायत कर रहा हूँ, उसमें तो लड़के अँग्रेज़ी छोड़कर वे सब विषय सिखेंगे, जो आज हाईस्कूलों में सिखाये जाते हैं; उनके सिवा वे क़वायद, संगीत, चित्रकला, और निस्सन्देह एकाध उद्योग या दस्तकारी भी सीखेंगे। इन मदरसों को कारख़ाने कहना हक़ीक़त को समझने से

इनकार करना है। यह तो वही मसल हुई कि किसी आदमी ने बन्दर को छोड़ और कोई प्राणी देखा ही न हो, और चूँकि मनुष्य का वर्णन, कुछ ही अंशों में क्यों न हो, बन्दर के वर्णन से मिलता-जुलता है, इसलिए वह मनुष्य का वर्णन पढ़ने से ही इनकार कर दे ! मैंने अपनी सूचनाओं द्वारा जिन परिणामों का दावा किया है, अगर ये अध्यापक उनके खिलाफ़ जनता को चेतावनी देते, और कहते कि वैसे सब परिणाम पाने की वह आशा न रक्खे, तो उनके कथन में कुछ तो भी तथ्य रहता; लेकिन ऐसी चेतावनी भी अनावश्यक होती, क्योंकि मैं खुद उसे दे चुका हूँ।

मैं मानता हूँ कि मेरी सूचना नई है। लेकिन नवीनता कोई अपराध नहीं। मैं यह भी मानता हूँ कि इसके पीछे विशेष अनुभव नहीं है। लेकिन मेरे साथियों को जो अनुभव प्राप्त हुए हैं, उनपर से मुझे यह अनुभव करने में बल मिलता है, कि यदि इस योजना को निष्ठा के साथ कार्य में परिणत किया जाय, तो यह ज़रूर सफल होगी। यदि यह प्रयोग असफल हो, तब भी इसकी आज़माईश कर लेने में देश की कोई हानि न होगी। अगर यह प्रयोग कुछ अंशों में भी सफल हो जाय, तो इससे बहुत ज्यादा लाभ होगा। प्राथमिक शिक्षा को मुफ्त, लाज़िमी और असरदार बनाने का और कोई तरीक़ा नहीं है। इसमें तो कोई शक नहीं कि आजकल की जो प्राइमरी तालीम है, वह एक फँदा है—भ्रम है।

श्री नरहरि परीख के आँकड़े इसलिए लिखे गये थे, कि इस योजना का जितना समर्थन उनसे हो सके, वे करें। इन आँकड़ों से ही किसी अन्तिम निर्णय पर नहीं पहुँचा जा सकता; फिर भी इनसे प्रोत्साहन अवश्य मिलता है। उत्साही लोगों के लिए बहुत-सी तथ्य की बातें इनमें मिलती हैं। सात साल मेरी योजना के अविभाज्य अंग नहीं हैं। हो सकता है, कि मैंने जिस बौद्धिक भूमिका की कल्पना की है, उस तक पहुँचने में अधिक समय लगे। शिक्षा की अवधि को बढ़ाने से राष्ट्र की कोई भी हानि न होगी। मेरी योजना के आवश्यक अंग इस प्रकार हैं :

१. कुल मिलाकर देखा जाय तो मालूम होता है कि किसी एक या अनेक उद्योगों की शिक्षा लड़कों और लड़कियों के सर्वतोमुखी विकास का अच्छे-से-अच्छा साधन है। इसलिए सारी पढ़ाई उद्योग की शिक्षा के आस-पास बैठाई जानी चाहिए।

२. इस कल्पना के अनुसार जो प्राथमिक शिक्षा दी जायेगी, वह कुल मिलाकर अवश्य स्वावलम्बी होगी। हो सकता है, कि पहले या दूसरे साल की पढ़ाई तक यह शायद पूरी स्वावलम्बी न भी बने। यहाँ प्राथमिक शिक्षा से मतलब उस शिक्षा का है, जिसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है।

इन अध्यापकजी को शक है कि उद्योग द्वारा गणित या दूसरे विषय कहाँ तक सिखाये जा सकेंगे? उनका यह शक अनुभव की कमी का सूचक है। लेकिन मैं तो अपनी बात अनुभव के बल से कह सकता हूँ। दक्षिण-आफ्रिका के टॉल्स्टाय फार्म पर जिन लड़कों और लड़कियों की शिक्षा के लिए मैं प्रत्यक्ष रूप से ज़िम्मेदार था, उनका सर्वांगीण विकास करने में मुझे किसी कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ा था। क़रीब आठ घंटों का उद्योग ही वहाँ की शिक्षा का केन्द्र था। उन्हें एक अथवा अधिक-से-अधिक दो घंटे लिखने-पढ़ने के मिलते थे। उद्योगों में खोदना, रसोई बनाना, पाखानों की सफ़ाई करना, झाड़ना-बुहारना, चप्पल बनाना, बढ़ईगिरी और चिट्ठी-पत्री या सँदेशे लाने-ले जाने का काम, आदि का समावेश था। बालकों की उमर ६ से लेकर १६ वर्ष तक की थी। उसके बाद तो यह उद्योग बहुत ही फूला-फला है।

(हरिजन, २ अक्तूबर, १९३७)

प्राथमिक शिक्षक बनने के इच्छुकों से—

राष्ट्रीय शिक्षकों को लक्ष्य करके मैंने जो लेख लिखा था, उसके उत्तर में, सन्तोष की बात है, कि मेरे पास हर रोज़ कई चिट्ठियाँ आने लगी हैं। इन चिट्ठियों पर से मैं यह देख रहा हूँ, कि लिखनेवालों ने मेरी प्रार्थना के मतलब को समझा नहीं है। ऐसे शिक्षकों की ज़रूरत नहीं है, जिन्हें किसी उपयोगी दस्तकारी के ज़रिये शिक्षा देने की बात में पूरी-पूरी श्रद्धा न हो, और जो इस काम को केवल प्रेम-पूर्वक और जीविका-निर्वाह के लिए आवश्यक वेतन-मात्र लेकर करने को तैयार न हों। जो इस क्षेत्र में आना चाहते हैं, उन सबको मेरी सलाह है, कि वे कताई की कला को और उससे पहले की सब क्रियाओं को अच्छी तरह सीख लें: उनमें निष्णात बन जायें। इस बीच जिनके

नाम मेरे पास आयेंगे, उन्हें मैं अपने पास नोट करके रक्खूँगा। मेरी योजना के अमल में जो तरक्की होगी, उसकी सूचना इन पत्र-लेखकों के पास मेरी ओर से यथा-समय पहुँचती रहेगी। मेरी यह कोशिश उस माँग की पूर्ति के लिए है, जो सात प्रान्तों की सरकारें मुझसे तब करेंगी जब वे मेरी योजना को मानने और उसका प्रयोग करने को प्रेरित होंगी।

(हरिजन, ९ अक्तूबर, १९३७)

उद्योग द्वारा शिक्षा के समर्थन में

यद्यपि विनोबा और मैं केवल पाँच मील के अन्तर पर रहते हैं, फिर भी चूँकि दोनों अपने-अपने काम में लगे हुए हैं, और दोनों का स्वास्थ्य भी कुछ गिरा हुआ है, इसलिये हम क्वचित् ही एक-दूसरे से मिल पाते हैं। अतएव बहुत कुछ काम पत्र-व्यवहार से कर लेते हैं।

"आपके शिक्षा-विषयक ताज़ा विचार मुझे बहुत ही रुचे हैं। मेरे विचार इसी दिशा में काम कर रहे हैं। 'उद्योग-शिक्षण' इस तरह की द्वैत भाषा मुझे अच्छी ही नहीं लगती। मैं तो 'उद्योग-शिक्षण' के अद्वैती समीकरण में विश्वास रखता हूँ। निःसन्देह मैं यह मानता हूँ, कि शिक्षा स्वावलम्बी हो सकती है। मैं तो समझता हूँ, कि जिसमें स्वावलम्बन नहीं, ग्रामों की दृष्टि से, उसे हम शिक्षा कह ही नहीं सकते। इस विषय में आपके विचारों से मैं पूरी तरह सहमत हूँ, इसलिए इसपर विशेष रूप से कुछ लिखने की इच्छा नहीं होती। हाँ, इनका प्रयोग करने की इच्छा होती है। कुछ किया भी है, और ईश्वर की मर्ज़ी हुई तो इस विषय का अन्तिम निर्णय करने की भी आशा रखता हूँ।"

ये विचार विनोबा के ऐसे ही एक पत्र से मैंने लिये हैं। मेरी दृष्टि में इनका बहुत महत्त्व है; क्योंकि इस दिशा में जो प्रयोग विनोबा ने किये हैं, उतने जहाँ तक मैं

सरकार ने यह तकलीफ़ खुद नहीं उठाई, क्योंकि उसके जैसा विदेशी ही यह कह सकता है कि अगर पैसे कम हैं, तो शिक्षा भी कम दो। कांग्रेस के राज्य में तो जो जिस बोझ को उठा सकता है, वह बोझ उसे उठा लेना चाहिए। विद्यार्थी कितना बोझ उठा सकते हैं, इसकी ठीक-ठीक जाँच होने से पता चलेगा कि अगर सुव्यवस्था से काम चले, तो वे अपनी शिक्षा के खर्च में बहुत ज्यादा हाथ बँटा सकते हैं, और उससे इतना कुछ सीख सकते हैं, कि बड़े होने पर अपनी जीविका खुद चला सकें।"

(हरिजन-बन्धु, १० अक्तूबर, १९३७)

कोरे विचार नहीं, ठोस कार्य

डॉ० एरंडेल ने अपने एक लेख की नक़ल, जो 'ओरिएण्ट इलस्ट्रेटेड वीकली' में छपनेवाला है, मेरे पास पेशगी भेजी है, और उसके साथ नीचे लिखा पत्र भेजा है :

"आपने यह इच्छा प्रकट की है, कि अब इस देश में शिक्षा स्वावलम्बी बननी चाहिए, और इतने वर्षों से जैसी कृत्रिम रही है, वैसी अब न रहनी चाहिए। मैंने हिन्दुस्तान में, शिक्षा के क्षेत्र में, तीस साल से भी अधिक काम किया है। मेरा एक लेख 'ओरिएण्ट इलस्ट्रेटेड वीकली' में छपने जा रहा है; उसी की एक प्रति आपकी सेवा में भेज रहा हूँ। शायद इसमें कुछ ऐसे विचार हों; जो आपके विचारों से कुछ हद तक मिलते-जुलते हों। मैं निश्चय ही यह अनुभव करता हूँ कि शिक्षा की एक राष्ट्रीय योजना होनी चाहिए, और प्रत्येक राष्ट्रीय मंत्री या मिनिस्टर को अपने-अपने प्रान्त में उस योजना पर अमल कराने की पूरी-पूरी कोशिश करनी चाहिए। इस प्रश्न को कुछ-कुछ हल करने के लिए अलग-अलग प्रयत्न तो बहुत-से हुए हैं। लेकिन मैं समझता हूँ कि शिक्षा-सम्बन्धी मुख्य सिद्धान्तों की तुरन्त ही घोषणा हो जानी चाहिए; जिससे सब प्रान्तों में एक-ही-सा प्रयत्न हो, और सरकार और रिआया हिलमिलकर काम करे।"

इस लेख से कुछ खास महत्त्व के और उपयोगी अवतरण मैं नीचे देता हूँ। कार्य का श्रीगणेश कैसे किया जाय, इसकी चर्चा के बाद लेखक ने लिखा है :

"राष्ट्रीय शिक्षा के मूल में किस प्रकार के सिद्धान्त होने चाहिए, इसके विवेचन के लिए मेरे पास स्थान नहीं है फिर भी, मैं यह आशा रखता हूँ, कि लड़कों और लड़कियों—दोनों की शिक्षा से हम धीरे-धीरे विद्यालय और कॉलेज के हास्यास्पद भेद को मिटा डालेंगे। और हमारी समस्त-शिक्षा का मुख्य मंत्र होगा : कुछ करना, करके दिखाना!

"विचार कितने ही क्यों न जागें, जबतक वे क्रियात्मक होकर फलप्रद नहीं होते, उनका कोई मूल्य नहीं माना जाता। यही बात भावनाओं और अनुभूतियों की शिक्षा के बारे में कही जा सकती है। आजकल की शिक्षण-पद्धतियों में इसकी बहुत ही उपेक्षा की गई है। ज़रूरत इस बात की है कि हिन्दुस्तान के नौजवान कर्मठ बनें, और शिक्षा द्वारा उनका चरित्र ऐसा तैयार हो, कि उनमें कुछ काम करने की, कुछ व्यावहारिक कार्य सिद्ध कर दिखाने की, और कुछ सेवा करने की शक्ति पैदा हो। हिन्दुस्तान को ऐसे नौजवान नागरिकों की ज़रूरत है, जो परिस्थितियों और संयोगों के कारण किसी भी क्षेत्र में क्यों न पड़े हों, वहाँ भी कुछ-न-कुछ अच्छे काम करके दिखा सकें। शिक्षा या अध्ययन के प्रत्येक विषय का ध्येय सदाचार होना चाहिए। हमारे शिक्षकों को सब विषयों की शिक्षा ऐसे ही ढंग से देनी चाहिए, जिससे विद्यार्थी के चारित्र्य का विकास हो। क्योंकि व्यक्ति और राष्ट्र दोनों के लिए चारित्र्य ही जीवन का एक-मात्र निश्चित आधार है।

"जब एक बार सदाचार जागृत हो उठेगा, तो कुछ करने की संकल्प-शक्ति भी बलवान बनेगी, और स्वावलम्बन तथा आत्मसमर्पण की दिशा में वह जोरों से काम करना शुरू कर देगी। तभी मनुष्य के अन्दर धरतीमाता के अधिक-से-अधिक निकट सम्पर्क में आने की, खेती द्वारा उसे पूजने की, और सादगी तथा शुद्ध आचरण द्वारा उसपर कम-से-कम बोझ-रूप होने की, इच्छा पैदा होगी। मेरा तो निश्चित मत है कि धरती-माता के किसी भी बालक को ऐसा असमर्थ नहीं होना चाहिए कि वह सीधे उससे अपना पोषण ग्रहण न कर सके। इसलिए मैं शिक्षा में प्रकृति या धरती के साथ के सीधे सम्बन्ध को कुछ हद तक ज़रूर दाखिल कराना चाहूँगा। शहरी मदरसे भी इसके अपवाद न रहेंगे। शिक्षा की जिन रूढ़ियों के कारण आजकल की शिक्षा एक बड़ी हद

तक निरर्थक सी बन गई है, उनका हमें त्याग कर देना चाहिए। आज के शुभ अवसर पर, जबकि देश में राष्ट्रीय यानी कांग्रेसी-मंत्रि-मंडल काम कर रहे हैं, हमें सच्ची शिक्षा-पद्धति का मंगलाचरण कर देना चाहिए। यह नई शिक्षा निरी किताबी पढ़ाई न होगी। हम पुराने ज़माने की शिक्षा के संकुचित बन्धनों से जकड़े हुए हैं; अतएव गांधीजी ने स्वावलम्बी शिक्षा की जो योजना सुझाई है, उसका मैं हृदय से समर्थन करता हूँ। मुझे यह विश्वास नहीं होता कि उनकी बताई हुई हद तक हम जा सकेंगे। उनकी इस बात से तो मैं पूरी तरह सहमत हूँ, कि सात वर्ष की शिक्षा के बाद लड़के को इस योग्य बनाकर निकालना चाहिए कि वह खुद अपनी जीविका कमा सके। मैं तो यह भी अनुभव करता हूँ कि शिक्षा द्वारा प्रत्येक मनुष्य को अपने अन्दर रही हुई सृजन-शक्ति का बहुत-कुछ खयाल हो जाना चाहिए। क्योंकि हरएक मनुष्य एक विकासमान ईश्वरीय अंश है, और उस ईश्वर की जो परम शक्ति, अर्थात् पैदा करने की जो शक्ति है, वह उसमें भी मौजूद है। अगर उसमें यह शक्ति जागृत न हो, तो फिर शिक्षा किस काम की? उस दशा में वह कोरी पढ़ाई तो कही जा सकती है, शिक्षा कदापि नहीं।

"दिमाग़ का सम्बन्ध जितना सर से है, उतना ही हाथ से भी है। एक लम्बे अर्से से हमने मस्तिष्कगत बुद्धि को ईश्वर-रूप माना है। बुद्धि ने हमपर अत्याचार किया है, उसने जिधर हमें हाँका है, हम उधर ही हँक गये हैं। आज नई परिस्थिति उत्पन्न हुई है, उसमें इस बुद्धि का स्थान एक सेवक का स्थान होना चाहिए। और, हमें सादगी को, प्रकृति के सादे सौंदर्य को, हाथ के कला-कौशल को, अर्थात् कलाकार, कारीगर, किसान आदि के हाथ-पैरों के परिश्रम को उच्च और उन्नत मानना सीखना चाहिए।

"मैं जानता हूँ कि अगर मुझे इस तरह की शिक्षा मिली होती, तो मेरा जीवन अधिक सुखी और अधिक शक्तिशाली बना होता।"

जो बात मैं एक दुनियादार की हैसियत से अपने दुनियादार पाठकों को कहता आया हूँ, वही डॉ० एरंडेल ने एक शिक्षा-शास्त्री के नाते शिक्षा-शास्त्रियों को और जिनके हाथ में आज देश के नौजवानों को बनाने-बिगाड़ने की सत्ता है, उनको लक्ष्य करके कही है। स्वावलम्बी शिक्षा के विचार के बारे में उन्होंने जैसी सावधानी से काम लिया है, उससे मुझे कोई आश्चर्य नहीं हुआ है। मेरी दृष्टि में तो वही खास चीज़ है। मुझे दुःख केवल एक ही बात का है, कि जो चीज़ पिछले चालीस वर्षों से धुँधली-धुँधली-

सी दिखाई देती थी, वही अब परिस्थिति के कारण दीपक की भाँति साफ़-साफ़ दिखाई देने लगी है।

सन् १९२० में मैंने वर्तमान शिक्षा-पद्धति के विरुद्ध कड़ी-से-कड़ी बातें कही थीं। अब मुझे अवसर मिला है, कि इस बारे में मैं सात प्रान्तों के मन्त्रियों पर, थोड़ा ही क्यों न हो लेकिन कुछ असर डाल सकता हूँ। इन मन्त्रियों ने देश की स्वतन्त्रता के युद्ध में मेरे साथ काम किया है, और मेरी ही तरह कष्ट सहे हैं। इसलिए इस बात को कि आजकल की शिक्षा-पद्धति सिर से पैर तक बहुत ही दूषित है, सिद्ध कर देने की ऐसी ज़ोरदार इच्छा मन में पैदा होती है, कि मैं उसे रोक नहीं सकता। और, जिस चीज़ को मैं इस पत्र में बहुत ही अपूर्ण-सी भाषा में व्यक्त करने का यत्न कर रहा था, बिजली की चमक की भाँति मुझे उसका दर्शन एकाएक हो गया है, और अब उस सत्य की प्रतीति मुझे प्रतिदिन अधिकाधिक होती जाती है। इसलिए देश के जिन शिक्षा-शास्त्रियों को अपना कोई स्वार्थ सिद्ध नहीं करना है, और जिनके मन नये विचारों को ग्रहण करने के लिए तैयार हैं, उनसे मैं यह कहने का साहस करता हूँ कि वे मेरी दोनों सूचनाओं पर विचार करें, और प्रचलित शिक्षा-प्रणाली के सम्बन्ध में लम्बे अर्से से जिन विचारों ने उनके अन्दर जड़ जमा ली है, उनको अपनी बुद्धि के स्वतन्त्र प्रवाह में बाधक न होने दें। यह सोचकर कि मैं शिक्षा के शास्त्रीय और रूढ़िमान्य रूप से बिलकुल ही अपरिचित हूँ, मैं जो कुछ कहता या लिखता हूँ, उसके खिलाफ़ वे पहले ही से अपने विचारों को स्थिर न कर लें, और बिना मेरी बातों पर पूरा विचार किये उन्हें ठुकराने की चेष्टा न करें। लोग कहते हैं, कि अक्सर बालक के मुँह से भी ज्ञान की बातें प्रकट हो जाती हैं—बालादपि सुभाषितम् यह शायद कवि की अतिशयोक्ति हो, लेकिन इसमें तो कोई शक नहीं कि ज्ञान बालकों के मुख से प्रकट होता है, और निष्णात या धुरन्धर विद्वान् उसपर चमक चढ़ाते हैं, और उसे शास्त्र-शुद्ध रूप देते हैं। इसलिए मेरा निवेदन है कि वे मेरी सूचनाओं पर केवल गुण-दोष की दृष्टि से ही विचार करें। मैं इन सूचनाओं को यहाँ फिर दोहराये देता हूँ। पहले इसी पत्र में जिस रूप में इन्हें दे चुका हूँ, उस रूप में नहीं देता, बल्कि इन पंक्तियों को लिखाते समय जो भाषा मुझे सूझ रही है, उसी भाषा में लिखाता हूँ।

१. आज प्राथमिक, मिडिल और हाईस्कूल की शिक्षा के नाम से जो शिक्षा प्रचलित है, उसका स्थान सात या सात से अधिक सालवाली प्राथमिक शिक्षा को ग्रहण

करना चाहिए। इस शिक्षा में अंग्रेज़ी को छोड़कर मैट्रिक तक के सब विषयों का और उनके अतिरिक्त एकाध उद्योग का ज्ञान दिया जाना चाहिए। ज्ञान के सभी क्षेत्रों में लड़कों और लड़कियों के मन का विकास सिद्ध करने के लिए ज़रूरी है कि सारा ज्ञान किसी उद्योग के द्वारा ही दिया जाय।

२. कुल मिलाकर, मैं समझता हूँ, कि इस तरह की शिक्षा स्वावलम्बी हो सकती है—होनी ही चाहिए—क्योंकि असल में स्वावलम्बन उसकी यथार्थता की कसौटी है।

(हरिजन, २ अक्तूबर, १९३७)

स्वावलम्बी शिक्षा

इस लेख में 'सरकार' से मतलब सात प्रान्तों में कांग्रेस की सरकार से है। लेकिन इससे यह समझने का कोई कारण नहीं है कि कांग्रेस के सरकार बनने से जो मनोवृत्ति महासभावादी लोगों की कभी नहीं थी, वह एकाएक पैदा हो गई। यद्यपि कांग्रेस का रचनात्मक कार्यक्रम सन् १९२० के महान् परिवर्तन के समय से ही ज़ारी है, तो भी उसके बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि कांग्रेसवालों में उसके सम्बन्ध का जीवित वातावरण पैदा हो गया है। फिर, जो कांग्रेस से बाहर हैं, उनका तो पूछना ही क्या ! दूसरे यद्यपि संहारक (अगर संहारक विशेषण का अहिंसक रचना के सम्बन्ध में प्रयोग करना अनुचित न हो तो) अथवा निषेधात्मक कार्यक्रम जितना लोकप्रिय हुआ, उतना रचनात्मक अथवा उत्पादक कार्यक्रम न हो सका, तो भी कांग्रेस सन् १९२० से उसको सहती अर्थात् मानती आई है। कांग्रेस ने कभी उसको रद नहीं किया, और कांग्रेसवालों ने भी उसे ठीक-ठीक संख्या में अपना लिया है। इसलिए इस क्षेत्र में जो कुछ हो सका है, कांग्रेसवादियों द्वारा ही हो सका है, और प्रगति की आशा भी वहीं की जा सकती है, जहाँ कांग्रेस की सरकारें बनी हैं। लेकिन रचनात्मक कार्य में श्रद्धा रखनेवाले लोग

यह सोचकर कि अब तो हुकूमत कांग्रेस के हाथ में है, अपने प्रयत्नों को ढीला न करें, गफ़लत में न रहें। कांग्रेस की सरकार के होने से तो उनका धर्म यह हो गया है कि वे पहले से ज्यादा जाग्रत, ज्यादा उद्यमी और ज्यादा अध्ययनशील बनें। जब ऐसा होगा, तभी जो आशायें कांग्रेस-सरकार से रक्खी गई हैं, वे सफल होंगी। कांग्रेस-सरकार का अर्थ है, लोकमत के प्रति उत्तरदायी सरकार। अगर लोकमत इस सरकार को आज हटाना चाहे, तो हटा सकता है। लोकमत की इच्छा और सत्ता पर ही यह सरकार टिकी हुई है। इसलिए अगर महासभावाले चाहें, तो वे रचनात्मक कार्यक्रम को मंजूर ही नहीं, बल्कि उसका अमल भी करा सकते हैं। इसका यही एक रास्ता है। इस सरकार के पास कोई स्वतंत्र शक्ति अर्थात् तलवार की शक्ति नहीं है। कांग्रेस ने उसका सोच-समझकर त्याग किया है। यह शक्ति ब्रिटिश-सरकार के पास है। जिस दिन कांग्रेसी सरकार को ब्रिटिश-हुकूमत का यानी तलवार के बल का उपयोग करना पड़ेगा, उस दिन समझिये कि तिरंगे झंडे का पतन हो गया, यानी कांग्रेसी-सरकार मिट गई। लेकिन अगर लोग कांग्रेस की यानी कांग्रेसी-सरकार की बात को न मानें, अथवा उनमें अहिंसा का प्रवेश न हो, तो जो सरकार आज तेजस्वी दिखाई देती है, वह कल निस्तेज हो जायेगी।

इसलिए जिन कांग्रेसवादियों को रचनात्मक कार्य में श्रद्धा है, वे होशियार हो जायें। मैंने शिक्षा की जो योजना रक्खी है, वह भी रचनात्मक कार्य का एक बड़ा अंग है। उसे जो रूप मैं इस समय दे रहा हूँ, मेरे कहने का मतलब यह नहीं है, कि कांग्रेस ने उसको मंजूर कर लिया है। लेकिन आज मैं जो कुछ लिख रहा हूँ वह सन् १९२० से राष्ट्रीय शालाओं के विषय में मैंने जो कुछ कहा और लिखा है, उसकी जड़ में छिपा ही हुआ था। मेरा यह दृढ़ विश्वास है, कि आज मौक़ा मिलते ही यह चीज़ इस तरह एकाएक प्रकट हो गई है।

अब अगर प्राथमिक शिक्षा उद्योग द्वारा ही दी जाने को है, तब तो इस समय यह काम उन्हीं लोगों से हो सकता है, जिन्हें खासतौर पर चर्खे में तथा दूसरे ग्राम-उद्योगों में विश्वास है। क्योंकि चर्खे का उद्योग ग्राम उद्योगों में मुख्य है, और इस उद्योग के बारे में चर्खा-संघ ने काफ़ी जानकारी इकट्ठा कर रक्खी है। दूसरे उद्योगों के बारे में ग्राम-उद्योग-संघ जानकारी इकट्ठा कर रहा है। इसलिए मुझे ऐसा प्रतीत होता है, कि तत्काल जो भी रचना हो सकती है, वह चर्खे आदि के उद्योग द्वारा ही

हो सकती है। लेकिन जिन्हें चर्खे में श्रद्धा है, वे सभी शिक्षक नहीं होते। हरएक बढ़ई बढ़ईगिरी का उस्ताद या शास्त्री नहीं होता। जो उद्योग के शास्त्र को नहीं जानता, वह उद्योग द्वारा सामान्य शिक्षा नहीं दे सकता। इसलिए जिन्हें शिक्षा के शास्त्र से प्रेम है, और चर्खे वग़ैरा से दिलचस्पी है, वे ही प्राथमिक शिक्षा में मेरे सुझाये हुए क्रम को दाखिल कर सकेंगे, इस विचार से कि ऐसे लोगों को थोड़ी सहायता मिलेगी, मैं नीचे श्री दिलखुश दीवानजी का वह पत्र दे रहा हूँ, जो उन्होंने मेरे नाम भेजा है :

"*स्वावलम्बन और उद्योग द्वारा शिक्षा* के बारे में 'हरिजन' और 'हरिजन-बन्धु' में आप जिन सुन्दर विचारों और अनुभवों को प्रकाशित कर रहे हैं, उससे मुझे अपने यहाँ के इसी दिशा के कार्य में इतना प्रोत्साहन और उत्तेजन मिल रहा है, कि मैं यह पत्र लिखने के लिए मज़बूर-सा हो गया हूँ, और आपकी समस्त योजना कितनी उपयुक्त है, इस बारे में अपना उत्साह आपपर प्रकट करने के लोभ को रोक नहीं सक रहा हूँ। यह देखकर मुझे बड़ी खुशी होती है, कि दो साल से मैं यहाँ जो छोटी-सी उद्योग-शाला चला रहा हूँ, उसके अनुभव आपके विचारों से खूब मेल खाते हैं। इसलिए आप जिन क्रान्तिकारक विचारों को व्यक्त कर रहे हैं, उनका मैं सम्पूर्ण रूप से स्वागत करता हूँ; और उनसे अपनी पूरी-पूरी सहमति प्रकट करना चाहता हूँ। आप इस बात को समझ सकेंगे कि यह सहमति या स्वीकृति मेरी अन्धश्रद्धा का परिणाम नहीं, बल्कि अनुभव-जन्य श्रद्धा की प्रतीक है। आप एक ऐसी शास्त्र-सम्मत और सम्पूर्ण योजना का विचार कर रहे हैं, जो सारे देश के लिए उपयोगी हो सकेगी। मैं यहाँ जो काम कर रहा हूँ, उसमें अभी पूर्णतः और शास्त्रीयता की काफ़ी गुंजाइश है; और, मैं उसी दिशा में यत्नशील भी हूँ। इस चीज़ को अधिक-से-अधिक पूर्ण बनाने में हृदय बहुत ही आनन्द और उत्साह का अनुभव करता है। परन्तु इन दो साल से मुझे जो अनुभव हो रहे हैं, उनके बारे में उत्पन्न होनेवाले प्रश्नों पर जिस प्रकार का चिन्तन, मनन और चर्चा आज चल रही है, उसपर से मुझे आपके स्वावलम्बी और उद्योगी-शिक्षा के विचार बहुत ही उपयुक्त प्रतीत होते हैं, और अनुभव से सिद्ध हो सकने योग्य दिखते हैं। आपके विचारों और मुद्दों को मैं जिस तरह समझ सका हूँ, उसके अनुसार मेरा भी यह अनुभव होता जाता है कि :

"१. उद्योग को सभी प्रकार की शिक्षा का वाहन बनाने से सचमुच ही विद्यार्थी को सर्वोत्तम शिक्षा मिल जाती है। पुरुषार्थ और सदाचार के संस्कार इस

उद्योगमयी शिक्षा के बहुमूल्य उपहार बन जाते हैं, अतएव हिन्दुस्तान-जैसे ग़रीब देश की शिक्षा को स्वावलम्बी बनाने की जो अनहद-शक्ति इसमें पड़ी हुई है, उसके सिवा शुद्ध शिक्षा-शास्त्र की दृष्टि से भी उद्योग को शिक्षा का वाहन बनाने से विद्यार्थियों का सर्वांगीण विकास बहुत सरल बन जाता है।

"२. उद्योग को शिक्षा का माध्यम बनाने से प्राथमिक शिक्षा अवश्य ही और आसानी से स्वावलम्बी बन सकती है। हिन्दुस्तान-जैसे ग़रीब देश की शिक्षा का प्रश्न शिक्षा को स्वावलम्बी बनाने से ही छूट सकता है। सिवा इसके, हमारी आर्य-संस्कृति के लिए भी यही पद्धति विशेष अनुकूल पड़ती है। मुझे तो चर्खे का उद्योग बहुत रुच गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि यही सर्वव्यापक हो सकता है। इसलिए दो वर्षों के मेरे अनुभव में चर्खे के उद्योग से जो आमदनी हुई है, उसीके आँकड़े पड़े हुए हैं। आपने जितना सोचा है, उतना व्यवस्थित रूप अभी मेरे शिक्षण-कार्य को प्राप्त नहीं हुआ है, अर्थात् उससे जो अनुभव हुए हैं, उनमें प्रगति के लिए अभी बहुत ही गुंजाइश है। अगर आपकी आज्ञा हुई, तो ये आँकड़े और इनके सम्बन्ध के अपने विचार मैं सेवा में भेज दूँगा।

"३. अंग्रेजी को छोड़ देने से और प्राथमिक शिक्षा को विशेष व्यापक दृष्टि से देखने से, उद्योग के लिए ज्यादा समय देते हुए भी, मुझे तो साफ़-साफ़ दिखाई दे रहा है कि इस पद्धति द्वारा हम कुछ ही वर्षों में अपने विद्यार्थियों का अधिक-से-अधिक विकास कर सकेंगे। आजकल की शिक्षा से जुड़े हुए पांडित्य, विद्वत्ता, कौशल्य आदि के भ्रम-पूर्ण विचारों को जब हम छोड़ देंगे, तभी उद्योग द्वारा शिक्षा के गर्भ में रहे हुए सर्वतोमुखी शक्ति के विकास को हम पहिचान सकेंगे।

"४. पहली क्रान्ति यह होगी कि पाठशालाओं के कुल समय का तीन-चौथाई समय उद्योग को दिया जायगा। उसके बाद शिक्षा की पद्धति में दूसरी क्रान्ति यह करनी होगी कि वाचन, लेखन, समय-पत्रक, परीक्षा और विषय, वार, शिक्षा आदि के वर्तमान साधनों को दूर करके उद्योग द्वारा शिक्षा के लिए नीचे लिखे जो साधन बहुत ही उपयोगी और सरल सिद्ध हो रहे हैं, उनका प्रचार किया जाय।

"(अ) **श्रुत-शिक्षण :** पुस्तकों पर आधार रखने के बदले अगर शिक्षक स्वयं विद्यार्थियों के सामने सजीव पुस्तक बनकर बैठ जाय, तो चलते-फिरते,

बातों-ही-बातों से, लेकिन बड़े व्यवस्थित रूप से और थोड़े समय के अन्दर, विद्यार्थी इतना ज्ञान प्राप्त करते चलते हैं, कि शिक्षक के उत्साह और विद्यार्थियों की जिज्ञासा के परिणाम-स्वरूप उस सजीव पुस्तक में रोज़-रोज़, नये-नये अध्यायों की वृद्धि होती ही जाती है। इस प्रकार के श्रुत-शिक्षण से पुस्तकों पर होनेवाले खर्च का लगभग लोप ही हो जाता है।

"(आ) **शिक्षक का साहचर्य :** उद्योग द्वारा शिक्षा का यह एक बिलकुल अनिवार्य साधन है। जहाँ शिक्षक के हृदय में विद्यार्थियों के लिए प्रेम और उत्साह उमड़ता रहता है, वहाँ यह साहचर्य बहुत ही सहज, रसप्रद और परस्पर विकास-साधक सिद्ध होता है। ऐसा शिक्षक, शिक्षक होते हुए भी सनातन विद्यार्थी रहता है।

"(इ) उद्योगों द्वारा राष्ट्रीय और सामाजिक आन्दोलनों में बराबर हाथ बटाँते रहने के कारण विद्यार्थी-वर्ग बचपन ही से जन-समाज की अथवा सरकार की सहायता करने लगता है। लेकिन जैसा कि आपने लिखा है, अगर कोई कुशल और उत्साही शिक्षक जीवन के आरम्भ ही से विद्यार्थियों को शराब-बन्दी, हरिजन-सेवा, और गाँवों की सफ़ाई के कामों में बराबर शामिल होने का अवसर देता रहे, तो वह उन्हें सेवा की और समाज के परिचय की बहुत ही श्रेष्ठ, व्यावहारिक और सजीव शिक्षा देता है। उद्योगों द्वारा शिक्षा का हमारा यह नया साधन हमारी समस्त शिक्षा को अत्यन्त व्यावहारिक, सजीव और सफल बना देता है। इस बारे में जितना ही अधिक सोचता हूँ, उतना ही मुझे अधिकाधिक स्पष्ट प्रतीत होता जाता है, कि स्वराज्य-साधना और स्वराज्य-संचालन की हमारी खादी, ग्रामोद्योग, शराब-बन्दी, हरिजन-सेवा, और गाँवों की सफ़ाईवाली प्राण-पोषक प्रवृत्तियों के लिए उद्योग-प्रधान प्राथमिक पाठशालायें बहुत ही सहायक सिद्ध होंगी। विद्यार्थी ही राष्ट्र का सच्चा निर्माण कर सकते हैं; इस सूत्र का नई योजना द्वारा कितना सुन्दर प्रयोग होनेवाला है!

"(ई) माता-पिताओं और गुरुजनों के साथ का अत्यन्त निकटवर्ती और अधिक सजीव सम्बन्ध—हमारी नई प्राथमिक शिक्षा के लिए यह साधन बहुत ही

शक्तिशाली सिद्ध होनेवाला है। आजकल की शिक्षा माता-पिताओं और विद्यार्थियों के बीच के अन्तर को बढ़ाती रहती है। रजिस्टर पर सही करने और फीस देने के सिवा मा-बाप को बच्चों की पढ़ाई में और कोई *दिलचस्पी नहीं होती। स्कूलों की पढ़ाई किताबी होती है; इससे विद्यार्थी* गृह-जीवन की बातों से दूर-ही-दूर रहते हैं, और पारिवारिक प्रेम शिथिल होता जाता है। पुरानी वर्ण-व्यवस्था के कारण कृषि और उद्योग की परम्परागत जंज़ीर की जो कड़ियाँ परस्पर जुड़ी हुई थीं, वे किताबी शिक्षा में इस तरह उलझ और खो गई हैं, कि शुद्ध वर्ण-व्यवस्था का लोप हो रहा है। फलतः आज देश की खेती का और देहाती उद्योग-धन्धों का ह्रास हो रहा है। जब हमारी शिक्षा उद्योगमय होगी, तो उसका सम्बन्ध गाँवों के उद्योगों से, अर्थात् माता-पिता के धन्धों से सीधा और घनिष्ट हो जायेगा। इसलिए मा-बाप को उससे बड़ी दिलचस्पी हो जायेगी। उन्हें विश्वास रहेगा, कि उनके लड़के-लड़की पढ़-लिखकर निरुद्योगी नहीं, बल्कि घर के काम में और घरेलू उद्योग-धन्धों में सहायक होंगे। इस प्रकार प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य बनाने का प्रश्न अधिक सरल हो जायेगा। उस दशा में अनिवार्य शिक्षा के पीछे दण्ड या जुरमाने की ताक़त नहीं रहेगी। बल्कि माता-पिता का उत्साह-पूर्ण सहयोग ही उसकी सच्ची ताक़त होगी।

(उ) *यह बिलकुल ही उचित है कि आप प्राथमिक शिक्षा के विचार को* व्यापक-रूप देना चाहते हैं। मेरे पास गुजराती के चौथे दर्ज़े तक की शिक्षा पाये हुए विद्यार्थी आये हैं। उनका जो अनुभव मुझे हो रहा है, उससे पता चलता है कि चौथे दर्ज़े के बाद के देहाती छात्रों को सम्पूर्ण प्रश्न नवीन और क्रान्तिकारी उपायों की अपेक्षा रखता है। अनुभव यह हो रहा है कि चौथे दर्ज़े के बाद गाँवों के विद्यार्थी अंग्रेज़ी के मोह के कारण *शहरी मदरसों की तरफ़ ही ज्यादा खिंचते हैं। शहर की शिक्षा खर्चीली* होने से कईयों के लिए उसके दरवाज़े बन्द रहते हैं। उनकी शिक्षा बीच ही में रुक जाती है। जो लड़-झगड़ कर आगे बढ़ते भी हैं, वे विलासी, और परोपजीवी शिक्षा पाकर अपने आपको, अपने माता-पिता को, और गाँवों के हित को नुकसान ही पहुँचाते हैं। यदि लोगों को गाँवों में

उद्योग-शालायें क़ायम करके पढ़ाया जाय, तो इससे माता-पिता का, विद्यार्थियों का और गाँवों का अपार लाभ हो सकता है। मेरा यह अनुभव बराबर दृढ़ होता जा रहा है, कि चार घण्टों के उद्योग और दो घण्टों की पढ़ाईवाले मदरसों में विद्यार्थियों को बहुत आसानी से और बहुत ही थोड़े समय में, मैट्रिक तक का ज्ञान कराया जा सकता है।"

(हरिजन-बन्धु, १७ अक्तूबर, १९३७)

कुछ आलोचनाओं का उत्तर

सरकारी शिक्षा-विभाग के एक उच्च अधिकारी ने, जो अपना नाम प्रकट करना नहीं चाहते, प्राथमिक शिक्षा की मेरी योजना पर एक विस्तृत और विचार-पूर्ण आलोचना लिखी है, जिसे उन्होंने हम दोनों के एक मित्र द्वारा मेरे पास भेजी है। स्थानाभाव के कारण उनकी सभी दलीलों को मैं यहाँ नहीं दे सकूँगा; उनमें कोई नई बात भी नहीं है; फिर भी चूँकि लेखक ने बहुत मेहनत के साथ अपना लेख तैयार किया है, इसलिए उसका ज़वाब देना उचित मालूम होता है।

मेरी सूचनाओं के आशय को लेखक ने इन शब्दों में व्यक्त किया है :

"१. प्राथमिक शिक्षा का आरंभ और अन्त उद्योग-धन्धों से होना चाहिए, और शुरू-शुरू में साधारण विषयों की शिक्षा गौण रूप से दी जानी चाहिए। वाचन और लेखन द्वारा इतिहास, भूगोल और गणित का जो नियमित शिक्षण दिया जाता है, उसका क्रम बिलकुल अन्त में आना चाहिए।

"२. प्राथमिक शिक्षा आरम्भ ही से स्वावलम्बी होनी चाहिए। अगर सरकार स्कूलों से उनका तैयार माल खरीद लिया करे और जनता के हाथ उसे बेचे, तो स्कूल स्वावलम्बी बन सकते हैं।

३. प्राथमिक शिक्षा में मैट्रिक तक की पूरी पढ़ाई का समावेश हो; अलबत्ता अंग्रेज़ी उसमें शामिल न की जाये। युवकों और युवतियों से प्राइमरी स्कूलों में अनिवार्य रूप से शिक्षक का काम लेने का जो विचार अध्यापक शाह ने सुझाया है, उसकी पूरी जाँच की जाये, और सम्भव हो, तो उसपर अमल भी किया जाये।"

इसके बाद लेखक तुरन्त ही कहने लगते हैं :

"यदि हम उक्त कार्यक्रम का विश्लेषण करके देखें, तो हमें पता चलेगा कि उसकी तह में कुछ तो मध्ययुग के विचार हैं, और कुछ दूसरे विचारों के गर्भ में ऐसी मान्यता रही है, जो बारीकी से जाँच करने पर टिक नहीं सकती! ऊपर की कलम नम्बर तीन में पढ़ाई का जो स्टैण्डर्ड सुझाया गया है, वह शायद बहुत ऊँचा कहा जा सकता है।"

अच्छा होता, अगर मेरे लेखों का आशय देने के बदले लेखक मेरे शब्दों को ही उद्धृत करते; क्योंकि पहली कलम में मेरे आशय को समझाते हुए उन्होंने जो बातें कही हैं, उनमें से एक में भी सचाई नहीं है। मैंने यह नहीं कहा कि शिक्षा का आरम्भ उद्योग से होना चाहिए और बाक़ी चीज़ें गौण रहनी चाहिएँ। बल्कि मैंने तो यह कहा है, कि सारी सर्व-साधारण शिक्षा उद्योग द्वारा दी जाये, और उसके साथ-साथ वह आगे बढ़े। लेखक ने जो चीज़ मुझसे कहलवायी है, उससे यह बिलकुल अलग चीज़ है। मध्ययुग में क्या होता था, मैं नहीं जानता। लेकिन मैं इतना ज़रूर जानता हूँ कि क्या मध्ययुग में, और क्या किसी दूसरे युग में, उद्योग द्वारा मनुष्य के सर्वांगीण विकास को सिद्ध करने का आदर्श कभी रक्खा नहीं गया था। यह विचार नया और मौलिक है। अगर यह झूठ भी साबित हो जाये; तब भी इसकी मौलिकता में कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता। फिर, जबतक किसी मौलिक विचार को बड़े पैमाने पर आज़माकर देखा न गया हो, उस-पर सीधा हमला करना उचित नहीं: बिना आज़माये ही उसे असम्भव कह देना कोई दलील नहीं।

फिर मैंने यह भी नहीं कहा कि वाचन-लेखन द्वारा दी जानेवाली शिक्षा बिलकुल ही अन्त में दी जाये; उलटे, इस तरह की पढ़ाई तो बिलकुल आरम्भ ही से शुरू होती है; क्योंकि बालक के सर्वांगीण विकास का वह एक अविभाज्य अंग है। निस्सन्देह मैंने यह कहा है, और फिर कहता हूँ, कि वाचन कुछ देर से शुरू किया जाये और लेखन

उसके बाद। लेकिन यह सारा क्रम पहले साल में अवश्य ही पूरा हो जाना चाहिए। मतलब यह है, कि मेरी कल्पना की प्राथमिक पाठशाला में, आजकल की प्राथमिक पाठशालाओं की अपेक्षा, बालकों को एक साल के अन्दर जो सामान्य ज्ञान मिलेगा, वह पहले से कहीं अधिक होगा। मेरी पाठशाला का बालक शुद्ध-शुद्ध बोल और पढ़ सकेगा; और आजकल के बालक जैसे टेढ़े-मेढ़े अक्षर लिखते हैं, उनके मुक़ाबिले वह शुद्ध और सुन्दर लिखना जानेगा। साथ ही, पहले साल में वह सादा जोड़, सादा बाक़ी और सादे पहाड़े-पट्टी भी जान चुकेगा, और यह सब वह उस दस्तकारी के मारफ़त और उसके साथ-साथ सीखेगा, जिसे वह खुद अपनी इच्छा से चुनेगा। उदाहरण के लिए, मैं मानता हूँ कि वह कताई के ज़रिये इन सब चीज़ों को सीख सकेगा।

दूसरी कलम में दिया गया आशय भी पहली की तरह अपूर्ण है; क्योंकि मैंने कहा तो यह है कि जो सात वर्ष मैंने सुझाये हैं, उन सात वर्षों के अन्दर, उद्योग द्वारा दी जानेवाली शिक्षा स्वावलम्बी बननी चाहिए। मैंने साफ़-तौर से कहा है, कि पहले दो वर्षों में एक हद तक घटी भी हो सकती है।

सम्भव है, मध्ययुग ख़राब रहा हो, लेकिन महज़ इसलिए कि एक चीज़ मध्ययुग की है, मैं उसको त्याज्य ठहराने को तैयार नहीं। चर्खा अवश्य ही मध्य-युग की चीज़ है, लेकिन मैं तो समझता हूँ कि वह सदा के लिए क़ायम रहेगा। चर्खा तो वही है, जो पहले था; लेकिन एक ज़माने में, 'ईस्ट इंडिया कंपनी' के आगमन के बाद, जिस तरह वह गुलामी का प्रतीक बन गया था, उसी तरह अब स्वतंत्रता और एकता का प्रतीक बना है। हमारे पुरखों ने सपने में भी जिस अर्थ की कल्पना न की होगी, उससे कहीं गहरा और सच्चा अर्थ आजकल के हिन्दुस्तान को इस चर्खे से प्राप्त हुआ है। इसी तरह, दस्तकारी या हाथ के उद्योग-धन्धे किसी समय कारखानों की मज़दूरी के प्रतीक भले रहे हों, लेकिन अब वे पूरे-पूरे और सच्चे-से-सच्चे अर्थ में शिक्षा के प्रतीक और उसके साधन बन सकते हैं। अगर कांग्रेसी मन्त्रियों में पर्याप्त कल्पना-शक्ति और साहस होगा, तो वे इन विचारों की आज़माइश किये बिना न रहेंगे : उन टीका और आलोचनाओं के रहते हुए भी, जो शिक्षा-विभाग के बड़े-बड़े अधिकारी और दूसरे लोग सद्भाव के साथ करेंगे, और खासकर जब इस तरह की टीकायें कुछ काल्पनिक विश्वासों के आधार पर की जायेंगी।

इन लेखक ने इस बात को मंजूर तो किया है कि युवकों और युवतियों से अनिवार्य सेवा लेने की जो योजना अध्यापक शाह ने सुझाई है, वह अच्छी है। लेकिन बाद में, मालूम होता है, उन्हें अपने इस कथन पर पछतावा हुआ है; क्योंकि वे कहते हैं :

"इस तरह शिक्षक के काम को अनिवार्य बना देना हमारे खयाल से एक अत्याचार है। मदरसों में, जहाँ छोटे बालक पढ़ने आते हैं, ऐसे ही स्त्री-पुरुष होने चाहिएँ, जिन्होंने इस धन्धे के पीछे, संसार में जितना स्वार्थ-त्याग हो सकता है, उतना स्वार्थ-त्याग करके अपना सारा जीवन इसीमें खर्च कर डाला हो; और जिनमें यह शक्ति हो कि स्कूलों में उत्साह और उमंग का वातावरण पैदा कर सकें। हमने अपने युवकों और युवतियों पर बहुत ज्यादा, शायद ज़रूरत से ज्यादा, प्रयोग किये हैं; लेकिन इस नये प्रयोग के जो परिणाम हो सकते हैं, उनके कारण हम ऐसे गड्ढे में गिर पड़ेंगे, कि फिर कम-से-कम पचास साल तक उसमें से उबरना सम्भव न रहेगा। इस सारी योजना के पीछे शायद यह कल्पना रही है कि अध्यापन की कला एक ऐसी कला है, जिसके लिए पहले से किसी प्रकार की तैयारी या तालीम की ज़रूरत नहीं; और शायद यह भी, कि हरएक मर्द और औरत पैदाइशी शिक्षक और शिक्षिका होती है। समझ में नहीं आता, कि आध्यापक शाह जैसे विख्यात पुरुष ऐसे विचार क्यों रखते हैं? ये विचार एक निरी धुन है, कि जिसका अगर अमल किया गया, तो नतीज़ा बहुत ही बुरा होगा। फिर, यह कैसे हो सकता है कि हरएक आदमी बच्चों को उद्योग आदि की शिक्षा भी दे सके?"

अध्यापक शाह अपनी बात का समर्थन करने और टीकाओं का उत्तर देने में स्वयं समर्थ हैं। लेकिन मैं इन लेखक को यह याद दिलाना चाहता हूँ कि आजकल के शिक्षक कोई स्वयंसेवक नहीं होते; वे तो अपनी जीविका के लिए काम करनेवाले चिट्ठी के चाकर या निरे नौकर होते हैं। अध्यापक शाह की योजना में यह कल्पना तो रही ही है, कि अनिवार्य अध्यापन के लिए जिन स्त्री-पुरुषों को चुना जाये, उनमें पहले ही से स्वदेश-प्रेम, स्वार्थत्याग की भावना, कुछ अच्छे-अच्छे संस्कार और दस्तकारी का ज्ञान, इतनी बातें अवश्य होनी चाहिएँ। उनकी यह कल्पना बहुत ही ठोस, बिलकुल सम्भाव्य और व्यावहारिक है; वह इस योग्य है, कि उसपर पूरा-पूरा विचार किया जाये। अगर स्वयम्भू शिक्षकों के मिलने तक हमें राह देखनी हो, तब तो क़यामत के दिन तक उनकी प्रतीक्षा करनी होगी!

मैं यह कहना चाहता हूँ, कि शिक्षकों और शिक्षिकाओं को, जहाँ तक हो सके, कम-से-कम समय में और बड़े पैमाने पर तालीम देकर तैयार करना होगा। जबतक आजकल के शिक्षित युवकों और युवतियों को समझा-बुझाकर उनकी सेवा इस काम के लिए प्राप्त न की जायेगी, तबतक यह न हो सकेगा। इन लोगों की ओर से जबतक स्वेच्छायुक्त सहयोग न मिलेगा, सिद्धि इस काम से दूर ही रहेगी। सत्याग्रह-युद्ध में विद्यार्थियों ने, कितना ही कम क्यों न हो, मगर हिस्सा ज़रूर लिया था। अब, जबकि केवल अपने गुज़ारे-भर को वेतन लेकर रचनात्मक कार्य में सहयोग देने की पुकार उठेगी, क्या वे उसका जवाब देने से इनकार कर देंगे ?

इसके बाद लेखक पूछते हैं :

"१. क्या हमें इसका खयाल न रखना चाहिए कि जब छोटे बच्चे कच्चे माल का उपयोग करेंगे, तो उसमें बहुत-कुछ नुकसानी भी होगी ?

"२. जो कोई केन्द्रीय संस्था तैयार माल की बिक्री का प्रबन्ध करेगी, उसका खर्च कैसे चलेगा ?

"३. क्या जनता को बाध्य किया जायेगा कि वह इन नये भण्डारों से ही चीज़ें खरीदे ?

"४. जो पेशेवर लोग आज इस तरह की चीज़ें बनाते हैं, उनका क्या होगा ? उनपर इसका कैसा असर पड़ेगा ?"

मेरे जवाब इस प्रकार हैं :

१. बेशक कुछ नुकसानी तो होगी ही; लेकिन पहले साल के अन्त में आशा है, कि हरएक बालक कुछ मुनाफ़ा करके दिखायेगा।

२. बहुतेरी चीज़ें तो सरकार अपनी ज़रूरतों के लिए खरीद लेगी।

३. राष्ट्र के बच्चों द्वारा बनाई हुई चीज़ें खरीदने के लिए किसीको बाध्य नहीं किया जायेगा; लेकिन यह आशा ज़रूर की जायेगी कि अपने बच्चों द्वारा बनाई

गई चीज़ों को राष्ट्र अपने उपयोग के लिए बड़े गर्व के साथ, देश-प्रेम की भावना से, और खुशी-खुशी खरीदेगा।

४. गाँवों में हाथ के उद्योगों द्वारा जो चीज़ें तैयार होंगी, उनमें होड़ का प्रश्न क्वचित् ही उत्पन्न होगा। इस बात का ध्यान रक्खा जायेगा कि स्कूलों में खासकर वेही चीज़ें बनाई जायें, जो गाँवों में बननेवाली दूसरी चीज़ों के साथ अनुचित होड़ न करें। उदाहरण के लिए, आज गाँवों में खादी, हाथ के बने काग़ज़ और ताड़ या खजूर के गुड़ का कोई हरीफ़ या प्रतिद्वन्द्वी है ही नहीं!

(हरिजन, २ अक्तूबर, १९३७)

शराब-बन्दी और शिक्षा

श्रीयुत जे० जी० गिलसन क्रिश्चियन हाई एण्ड टेकनीकल स्कूल, बालासोर के मंत्री और ए० बी० बी० ओ० मिशन के उद्योग, कला और धन्धों की शिक्षा के शिक्षा-विभाग के संचालक हैं। गाँवों में पानी, पाखाना, पेशाब आदि की व्यवस्था पर प्रकाश डालनेवाला कुछ साहित्य भेजते हुए वे लिखते हैं :

"शिक्षा और शराब-बन्दी के बारे में जो थोड़ी चर्चा पिछले कुछ महीनों से 'हरिजन' में छपने लगी है, उसपर टीका के रूप में कुछ लिखने का मेरा इरादा है। यह चर्चा मुझे बहुत ही दिलचस्प और विचारों को जागृत करनेवाली मालूम होती है; और मेरा यह आग्रह है कि हमारे मदरसों के सभी शिक्षक इसे पढ़ें और इसपर चर्चा करें। सब मिलाकर तो, मैं आपके निर्णयों से बहुत-कुछ सहमत होता हूँ। मुझे यह देखकर खुशी हुई कि आपने इस चीज़ को इतने सुस्पष्ट रूप से प्रकट किया, कि अगर शारीरिक श्रम समुचित रीति से कराया जाये, तो वह बौद्धिक विकास का एक अच्छे-से-अच्छा साधन हो सकता है। मैंने देखा है, कि शिक्षकों को यह समझाना बहुत ही कठिन है कि पाठ्य पुस्तकों, भाषणों और परीक्षा के लिए रटी जानेवाली चीज़ों के सिवा भी

दूसरे किसी साधन से बुद्धि का विकास हो सकता है। आपने इस चीज़ का जो विवेचन किया है, उससे सबको इसका स्पष्ट ज्ञान हो जाना चाहिए। हिन्दुस्तान की कुछ मिशनरी पाठशालाओं ने अपने यहाँ दस्तकारी की तालीम को दाखिल करके जो रास्ता दिखाया है, मुझे यह देखकर खुशी हुई, कि आपने उसकी क़द्र की है।

"दूसरी ओर आप जो यह कहते हैं कि विद्यार्थियों के काम द्वारा शिक्षा को स्वावलम्बी बनाया जा सकता है या बनाना चाहिए, उससे मैं सहमत नहीं हो सकता। यह हो कैसे सकता है, इसका कोई स्पष्टीकरण अबतक की चर्चा में कहीं मेरे देखने में नहीं आया। बालकों के काम से आर्थिक लाभ की आशा नहीं रक्खी जा सकती। संसार के प्रत्येक देश में बालकों का शोषण करनेवाले लोग इसी तरह मुनाफा कमाते हैं; इसके लिए वे बालकों से प्रायः ऐसे ही काम कराते हैं, जिन्हें फिर-फिर यंत्र ही की तरह करना पड़ता है; और जिनमें कुशलता की बहुत ही कम ज़रूरत रहती है। अगर बालकों से इस तरह का काम हर रोज़ चार घंटे स्पर्द्धा-पूर्ण वातावरण में कराया जाये, तो बालक न सिर्फ़ अपना खर्च निकालेंगे, बल्कि जो लोग उनके काम की निगरानी रक्खेंगे, उनका खर्च भी निकालकर देंगे। लेकिन शिक्षा की दृष्टि से ऐसे काम का कोई मूल्य न होगा। जिस तरह पाठ्य पुस्तकों के रटने और भाषणों के सुनने से बुद्धि मन्द हो जाती है, उसी तरह ऐसे कामों से भी हो जायेगी।

"शिक्षा की दृष्टि से बालकों के काम को उपयोगी बनाने के लिए आवश्यक है कि उन्हें तरह-तरह का काम दिया जाये और जब वे किसी एक को अच्छी तरह सीख लें, तो दूसरा नया काम उन्हें सीखने को दिया जाये। अपने विचारों के अनुसार प्रयोग करने का मौक़ा और नई-नई डिज़ाइनें तैयार करने की संधि उन्हें मिलनी चाहिए। अगर किसी ऐसे सुयोग्य व्यक्ति की निगरानी में उनको इस तरह का काम करने का मौक़ा दिया जाये, जो विचार-पूर्ण प्रश्न पूछकर और प्रोत्साहित करके उन्हें हमेशा जाग्रत रक्खे, तो इससे बच्चों में कई अच्छी आदतों और शक्तियों का विकास हो सकता है। लेकिन मुझे यह सम्भव नहीं मालूम होता, कि उनकी बनाई चीज़ों से स्कूल का खर्च निकल सकता है। हाँ, यह हो सकता है कि स्कूल के खर्च में वे थोड़ी मदद पहुँचायें।

"लेकिन मेरी समझ में नहीं आता कि हम क्यों ऐसी आशा रक्खें, कि पाठशालायें स्वावलम्बी बनें? बच्चों को शिक्षा देना और प्रौढ़ उमर में बड़ों की शिक्षा को ज़ारी

रखना तो समाज का एक कर्त्तव्य है; और, मैं तो यह महसूस करता हूँ कि हिन्दुस्तान की मौजूदा हालत में जनता के धन का सबसे बड़ा खर्च इसी काम के लिए होना चाहिए।

"मैं देखता हूँ, कि इस चर्चा में शराब-बन्दी और शिक्षा को एक साथ जोड़ दिया गया है, और दुःख की बात यह है कि अमेरिका की स्थिति को बिना समझे ही कुछ लोगों ने अमेरिका के प्रयोग की बात कही है। आपकी चर्चा में यह मुद्दा काफ़ी स्पष्टता के साथ रक्खा जा चुका है, कि शराब की दूषित आमदनी के सिवा दूसरे कई तरीक़ों से भी शिक्षा के लिए धन मिल सकता है। जब अमेरिका का दृष्टान्त दिया जाता है, तो उसके साथ यह भी कहना चाहिए कि वहाँ जितने दिन शराब-बन्दी का अमल रहा, शिक्षा के लिए कभी धन का अभाव नहीं पाया गया। बल्कि हक़ीक़त यह रही कि इस समय के अन्दर वहाँ की पाठशालाओं में बड़े वेग से सुधार हुए। जन-साधारण की हालत को सुधारने में अमेरिका का शराब-बन्दी अन्दोलन कभी असफल नहीं हुआ। हाँ, बड़े-बड़े शहर भले ही इसके अपवाद रहे हों! क्योंकि इन शहरों में अधिकतर आबादी उन लोगों की थी, जिनका जन्म यूरोप में हुआ था, और उनका लोकमत शराब-बन्दी के क़ानून का अमल नहीं होने देता था। इन शहरों के बाहर अमेरिकन जनता का बहुत ही बड़ा हिस्सा शराब से दूर रहता है। और हिन्दुस्तान की तरह ही वहाँ भी शराब का पीना सामाजिक और नैतिक दृष्टि से लज्जाजनक माना जाता है। अथवा यों कहिये, कि सन् १९३३ तक तो ज़रूर ही माना जाता था। पिछले चार वर्षों में इस दिशा में जो अतिरेक हुआ है, उसके खिलाफ़ जनता के अन्दर सख्त नाराज़ी पैदा होने लगी है। अमेरिका में राजनैतिक दृष्टि से शराब-बन्दी की असफलता का एक कारण तो था, वहाँ के शहरों की राजनैतिक सत्ता; दूसरा कारण यह था कि शराब बनानेवाले लोग, और शराब के व्यापार से लाभ उठानेवाले लोग, अखबारी 'प्रोपोगैण्डा' में करोड़ों डालर खर्च करने को तैयार थे; जबकि जन-साधारण, जिनकी दृष्टि में इस प्रश्न का कोई महत्त्व न रहा था, इस ओर से बिलकुल ही उदासीन थे। शहर के धनवान लोग गाँवों को जिस तरह चूसते हैं, उसका यह एक उदाहरण है। हिन्दुस्तान में भी शराब-बन्दी के अन्दोलन को सफल बनाने के पहले आपको इन्हीं समस्याओं का सामना करना पड़ेगा।

"मुझे यह जानकर दुःख होता है कि कुछ लोगों का यह खयाल हो गया है कि ईसाई लोग शराब-बन्दी के विरोधी हैं। श्री० फिलिप ने ऐसे खयालात की वजह समझाई

है, और कहा है कि इस देश में रोमन कैथलिकों को छोड़कर दूसरे बहुत-से ईसाई शराब-बन्दी के पक्ष में हैं। उनके इस कथन में मैं इतना और जोड़ देना चाहता हूँ, (और मैं मानता हूँ कि वे इसे स्वीकार करेंगे) कि हिन्दुस्तान में जो अमेरिकन पादरी आते हैं, वे प्रायः निरापद रूप से ऐसे समाजों से आते हैं, जिनमें मदिरा-सेवन बुरा माना जाता है। वे स्वयं कभी मदिरा का स्पर्श तक नहीं करते। मदिरा-त्याग का वे धार्मिक सिद्धान्त के रूप में उपदेश और प्रचार करते हैं; और अपने स्थापित गिरजाघरों में जो लोग नये-नये ईसाईधर्म की दीक्षा लेने उनके पास आते हैं, उनसे भी मदिरा-त्याग की प्रतिज्ञा करवाते हैं। मैं मानता हूँ कि जिन ईसाई-समाजों का ऐसे मिशनों के साथ सम्बन्ध है, वे शराब-बन्दी के अन्दोलन का अवश्य ही ज़ोरदार समर्थन करेंगे।

"सत्याग्रह अन्दोलन के दिनों में अमेरिकन पादरियों ने कांग्रेस के शराब-बन्दी अन्दोलन में खुल्लमखुल्ला हाथ नहीं बँटाया था, इससे यह न समझा जाना चाहिए, कि वे शराब-बन्दी के पक्ष में ही न थे। इससे तो केवल यही सिद्ध होता है कि वे सत्याग्रह के पक्ष में न थे, अथवा उसमें शामिल होने को राज़ी न थे। मैं समझता हूँ कि क़ानूनन् शराब-बन्दी करवाने का जो अन्दोलन इस समय चल रहा है, आप विश्वास रखिये कि उसमें इन लोगों का हार्दिक सहयोग आपको मिलेगा।"

श्रीयुत गिलसन को उद्योग द्वारा दी जानेवाली उस शिक्षा के, जिसका लक्ष्य विद्यार्थी का मानसिक विकास भी है, पूरी तरह स्वावलम्बी होने के बारे में जो शंका है, उसका मुझे कोई आश्चर्य नहीं होता। इस प्रश्न की चर्चा मैंने इसी अंक के एक दूसरे लेख में की है। हाँ, अमेरिका की शराब-बन्दी के बारे में श्री गिलसन ने जो प्रमाण पेश किये हैं, आशा है, पाठक उन्हें दिलचस्पी के साथ पढ़ेंगे!

(हरिजन, १६ अक्तूबर, १९३७)

एक अध्यापक का समर्थन

"आपकी इस सूचना के साथ मैं सहमत हूँ, कि बालक को कोई भी एक दस्तकारी शास्त्रीय और संस्कारी ढंग से सिखाई जाये, और जिस क्षण से उसकी शिक्षा का आरम्भ हो, उसी क्षण से उसे कोई उपयोगी चीज़ पैदा करना या बनाना सिखाया जाये। मैं इससे न केवल सहमत हूँ, बल्कि इसका साग्रह समर्थन भी करता हूँ। इसमें सन्देह नहीं कि यह एक क्रान्तिकारी सूचना है। फिर भी मैं इससे शत-प्रतिशत सम्मत हूँ। सदाचार, संस्कार और आर्थिक लाभ की दृष्टि से, व्यक्ति और राष्ट्र दोनों के लिए, इसका बहुत ज्यादा महत्त्व है। इससे बालक न केवल शरीर-श्रम के गौरव को समझेंगे, बल्कि उनमें स्वावलम्बन की भावना का विकास होगा, और वे जीवन में सृजन की उपयुक्तता और उसके महत्त्व को ठीक-ठीक समझ सकेंगे। हमारा ध्येय यह होना चाहिए कि बुद्धि, शरीर, नीति और उद्योग के मामलों में बालक की जो आवश्यकतायें हैं, उनकी पूर्ति की जाये और उसकी शक्तियों का विकास किया जाये। उद्योग की इस शिक्षा में बालक को उत्पादन की सभी क्रियाओं के सर्व-सामान्य सिद्धान्त सिखाये जायेंगे, और साथ ही बालकों अथवा नौजवानों को सब उद्योगों के सादे-से-सादे औज़ारों के उपयोग की व्यावहारिक शिक्षा भी मिलेगी। हमारा आदर्श यह होना चाहिए, कि हम अगली पीढ़ी के बालकों को पढ़ाई के साथ-साथ ऐसे काम सिखायें, जिनमें कुछ-न-कुछ सृजन की आवश्यकता हो। इसका मतलब यह है कि साधारण शिक्षा के साथ शारीरिक काम को जोड़ दिया जाये; और, इसका ध्येय यह है, कि बालक को उद्योग की उन सब शाखाओं का साधारण ज्ञान करा दिया जाये, जिनके साथ शारीरिक काम का सुमेल सिद्ध किया जा सके। बौद्धिक और नैतिक यत्नों के साथ जुड़े हुए इस शारीरिक श्रम को हमारी शिक्षा में मुख्य स्थान मिलना चाहिए; अर्थात् दिमाग़ का काम हाथ-पैर के काम से अलग न किया जाना चाहिए।

"प्राथमिक शिक्षा की अपनी पद्धति में हमें नीचे लिखे विषयों का समावेश करना चाहिए :

१. जन्मभाषा या मातृभाषा
२. अंकगणित
३. प्राकृतिक विज्ञान
४. समाज-शास्त्र
५. भूगोल और इतिहास
६. शारीरिक श्रम का अथवा उद्योग-धन्धों का काम
७. कसरत
८. कला और संगीत
९. हिन्दुस्तानी

"अब सवाल यह होता है कि बालक की शिक्षा का आरम्भ किस उमर से किया जाये। यदि पाँच या छः वर्ष की उम्र से शिक्षा का आरम्भ किया जाये, तो क्या इस उमर में बच्चों को कोई उपयोगी दस्तकारी सिखाई जा सकती है ? फिर इसके सिखाने में जो खर्च होगा, वह कहाँ से आयेगा ? यह चीज़ न साक्षरता के प्रचार से किसी क़दर सरल होगी; और न कम खर्च या सस्ती ही। मैं चाहूँगा कि आठ या दस वर्ष की उमर से दस्तकारी सिखाना शुरू किया जाये; क्योंकि औज़ारों का उपयोग करने के लिए ज़रूरी है कि बालक के हाथ शक्ति-शाली हों; तौल या दृढ़ता से युक्त हों। लेकिन मैं मानता हूँ कि प्राथमिक शिक्षा का आरम्भ कम-से-कम पाँचवें या छठे वर्ष में हो जाना चाहिए। इससे अधिक उमर तक बालक की शिक्षा को रोका नहीं जा सकता। हम जिस तरह का उद्योग बालकों को सिखाना चाहते हैं, उसके सिवा उन्हें मैट्रिक तक की योग्यता करा देने के लिए हमारे पास दस साल का पाठ्यक्रम होना चाहिए। किन्तु इन बालकों द्वारा—विशेषकर बहुत छोटी उमर के बालकों द्वारा—बनाई गई चीज़ों के आर्थिक मूल्य के विषय में मैं अवश्य ही थोड़ा सशंक हूँ। जिस देश में व्यापार-विषयक कोई प्रतिबन्ध नहीं है, जहाँ रोज़-रोज़ नई-नई फ़ैशनें निकलती हैं, और जहाँ बच्चों की बनाई हुई चीज़ें टिकाऊ अथवा सफ़ाईदार नहीं होतीं, वहाँ उनका बिकना मुमकिन नहीं मालूम होता। अगर राज्य इन चीज़ों को ख़रीदता है, अथवा किसी प्रकार की सेवा या सहायता के बदले में इन्हें लेता है, तो लेकर वह इन चीज़ों का क्या करेगा ? इससे अच्छा

तो यह है कि राज्य सीधे तौर पर शिक्षा में अपना पैसा खर्च करे। हाँ, बड़ी उम्र के, यानी १२ से १६ वर्ष के, लड़के बाज़ार में बिकने योग्य चीज़ें बना सकते हैं, और उनसे काफ़ी आमदनी भी हो सकती है।

"मैं तो साक्षरता के प्रश्न का विचार दूसरे ढंग से करना चाहता हूँ, और यदि इसके लिए नये कर लगाने या खर्च बढ़ाने की ज़रूरत पड़े, तो उसके लिए खुशी-खुशी तैयार हूँ। उपयोगी दस्तकारी के विचार को प्राथमिक शिक्षा के ऊँचे दर्जों में अथवा माध्यमिक शिक्षा में ठीक-ठीक बढ़ाया या विकसित किया जा सकता है। मैं मानता हूँ कि दस्तकारी को कम-से-कम एक खास हद तक स्वावलम्बी बनाने का यत्न किया जाना चाहिए, और अनुभव-प्राप्ति के बाद, उत्पन्न की गई चीज़ों के मूल्य के आधार पर, जहाँ तक हो सके, उसे सम्पूर्ण रूप से स्वावलम्बी बनाना चाहिए। यहाँ केवल एक खतरे से हमें बचना होगा; और, वह यह कि शरीर, मन, और आत्मा के संस्कार की शिक्षा कहीं आर्थिक उद्देश्य और पाठशाला की आर्थिक व्यवस्था के सामने बिलकुल ही गौण न हो जाये।

"आजकल के मैट्रिक के कोर्स से अंग्रेज़ी को निकालकर प्राथमिक शिक्षा को मैट्रिक तक बढ़ाने की आपकी सूचना भी मुझे मंजूर है। मैं तो चाहता हूँ कि उसमें हिन्दुस्तानी की शिक्षा को भी बढ़ाया जाये। इसका अर्थ यह है कि आप प्राथमिक शिक्षा में माध्यमिक शिक्षा का भी समावेश करते हैं। आपका इरादा स्कूल की पढ़ाई को एक सम्पूर्ण घटक बना देने का है, और मैं समझता हूँ कि यह घटक दस साल का हो सकता है। मैं इसमें इतनी बात और बढ़ाना चाहूँगा कि यह सारी शिक्षा मातृभाषा छोड़ और किसी भाषा द्वारा न दी जाये। इससे बालक के मन का स्वतन्त्र निर्माण होगा; उसके मन में ज्ञान के और जीवन के प्रश्नों के विषय में गहरी दिलचस्पी पैदा होगी; और उसके अन्दर सृजन की शक्ति और दृष्टि उत्पन्न होगी।

"मैं मंजूर करता हूँ कि मध्ययुग में शिक्षा अधिकतर स्वावलम्बी थी, और यदि हमारी सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक व्यवस्था और दृष्टि मध्ययुगीन ही रहें, तो आज भी साधारणतया हमारी शिक्षा ज़रूर ही स्वावलम्बी बनाई जा सकती है। मध्ययुगीन से मेरा मतलब है, वर्गों और वर्णों की अर्थ-व्यवस्था, समाज-व्यवस्था और राज्य-व्यवस्था के पुराने और संकुचित विचारों से चिपटी रहनेवाली। लेकिन आज, जबकि

हम पर प्रजातन्त्र, राष्ट्रवाद और समाजवाद की कल्पनायें अपना प्रभाव डाल रही हैं, हमारी शिक्षा स्वावलम्बी नहीं बन सकती। शासन-बल और साधन-सामग्री से सम्पन्न और संगठित जो एकमात्र शक्ति आज समाज के पास है, वह शासन या सरकार की शक्ति है। इसलिए इस काम का ज़िम्मा उसीको अपने सर लेना होगा। शक्ति के पुराने घटकों या समूहों में, यानी जातियों, वर्गों, संघों, पाठशालाओं, पंचायतों, और धर्म-संघों आदि में, आजकल शक्ति का, शासन-बल का, अथवा साधन-सामग्री का अभाव है; और पुराने ज़माने में जिस व्यापक अर्थ में इनका अस्तित्व था, वह अब नहीं रह गया है। लोगों को भी अब इनपर कोई श्रद्धा नहीं रही। समाज की सारी शक्ति अब राजनैतिक समूहों के हाथ में चली गई है। और हिन्दुस्तान में भी राजनैतिक शक्ति ही आर्थिक और सामाजिक शक्ति बन गई है। इसलिए दो आदर्श—एक मध्ययुगीन और दूसरा अर्वाचीन—दोनों साथ-साथ नहीं चल सकते। पुराने समय में न तो व्यापक शिक्षा थी, न प्रजासत्तात्मक शासन था, और न सबको समान समझनेवाली राष्ट्रीय दृष्टि थी।

"शिक्षा के कार्य के लिए नवयुवकों से अनिवार्य सेवा लेने का विचार अब कोई नया विचार नहीं रहा। लेकिन यह ज़रूरी है कि इसे कार्य-रूप में परिणत किया जाये। कांग्रेस और उसके प्रान्तीय मन्त्री अपने अधिकार-बल से देश के सुशिक्षित वर्गों से प्रार्थना करें, और उनको इस बात का न्योता दें, कि उनमें से जिन्हें सर्व-साधारण की शिक्षा से प्रेम है; उसके लिए दिल में लगन है; वे सब जनता को साक्षर और संस्कारी बनाने में, और उसमें शिक्षा का प्रचार करने में सरकार की सहायता करें। इससे सर्व-साधारण के साथ उनका नये ही प्रकार का सम्पर्क स्थापित होगा, और वह सम्पर्क केवल आर्थिक और राजनैतिक विषयों का ही न रहेगा; बल्कि उसके द्वारा जनता की सामुहिक शक्ति और बुद्धि को जाग्रत करने, उसे संगठित और व्यवस्थित बनाने का हमारा उच्चतम हेतु भी सिद्ध होगा।"

जब मैंने पहली बार स्वावलम्बी प्राथमिक शिक्षा के बारे में लिखा था, तभी शिक्षा के क्षेत्र में काम करनेवाले अपने साथियों से प्रार्थना की थी, कि वे उसपर अपनी सम्मति लिखकर भेजें। जिनकी सम्मतियाँ सबसे पहले आई, उनमें हिन्दू विश्वविद्यालय के अध्यापक श्री पुणतांबेकर भी थे। उन्होंने लम्बा और दलीलों से भरा हुआ एक पत्र भेजा था। लेकिन स्थानाभाव के कारण मैं उसे अबतक इस पत्र में दे न सका था।

ऊपर मैंने उनके पत्र का प्रस्तुत अंश ही दिया है। संक्षेप की दृष्टि से साक्षरता और कॉलेज की शिक्षा से सम्बन्ध रखनेवाले अंश छोड़ दिये हैं। क्योंकि इस महीने की २२वीं और २३वीं तारीख को जो परिषद् होनेवाली है, उसमें चर्चा का मुख्य विषय होगा—उद्योग द्वारा स्वावलम्बी प्राथमिक शिक्षा !

(हरिजन, अक्तूबर, १९३७)

"शिक्षा की समस्या"

जबसे महासभा के मंत्रियों ने मंत्रि-पद ग्रहण किये हैं, तबसे गांधीजी शिक्षा के बारे में कई लोगों के सामने अपने विचार प्रकट किया करते हैं। एक बार इसी सम्बन्ध में बातचीत करते हुए उन्होंने कहा था : "नये सुधारों की सबसे बड़ी विपरीतता यह है कि अपने बच्चों को पढ़ाने के लिए हमारे पास शराब की आमदनी से मिलनेवाले पैसों को छोड़कर और कोई ज़रिया ही नहीं है। शिक्षा के क्षेत्र में यह एक गूढ़ पहेली ही है। लेकिन हमें इससे हार मानने की आवश्यकता नहीं। इस पहेली को बूझने के लिए हमें कितना ही स्वार्थत्याग क्यों न करना पड़े, हम शराब को जड़मूल से मिटाने के अपने आदर्श को तनिक भी नीचा नहीं कर सकते। हमारे लिए तो यह विचार ही कि अगर शराब की आमदनी न हुई, तो हमारे बच्चे अनपढ़ ही रह जायंगे, एक लज्जा का और खिसियाहट का विषय होना चाहिए। लेकिन अगर ऐसा ही समय आ जाये, तो यह समझकर कि शराबखोरी और निरक्षरता में निरक्षरता कम खराब है, हमें उसीको मंजूर कर लेना चाहिए। अगर हम अंकों के चक्कर में न फँसें और इस प्रचलित विश्वास के शिकार न बनें, कि आज हमारे बच्चों को जिस प्रकार की शिक्षा मिलती है, वैसी शिक्षा उन्हें मिलनी ही चाहिए, तो इस प्रश्न से हमारे सामने कोई परेशानी पैदा ही क्यों हो ?" शिक्षा को स्वावलम्बी और गाँव के मदरसों को गाँव की आवश्यकताओं की पूर्ति करने योग्य बनाने के लिए जिस शिक्षा-पद्धति के विकास की ज़रूरत है, उसपर विचार करने के लिए

हमारे शिक्षा-शास्त्रियों को किसी जगह एकत्र होना चाहिए; इस बात पर गांधीजी क्यों इतना ज़ोर देते हैं, उसका मतलब उनके ऊपर दिये गये उद्‌गारों से समझा जा सकता है।

एक प्रश्नकर्त्ता ने आश्चर्य से पूछा : "तो क्या आप हाईस्कूल की शिक्षा को बन्द कर देंगे, और मैट्रिक तक की सारी शिक्षा गाँव के स्कूलों में देंगे ?"

महात्माजी ने कहा : "बेशक ! आपकी हाईस्कूल की शिक्षा में धरा ही क्या है ? जिस चीज़ को लड़के अपनी मातृभाषा द्वारा दो साल में सीख सकते हैं, उसीको पराई भाषा द्वारा सात साल में सीखने के लिए बाध्य करने के सिवा वह और करती ही क्या है ? यदि आप विदेशी भाषा द्वारा पढ़ने के असह्य बोझ से बच्चों को मुक्त करने का निश्चय-मात्र कर लें, और उनको अपने हाथ-पैरों का उपयोग किसी लाभप्रद काम में करना सिखायें, तो शिक्षा की समस्या अपने आप ही हल हो जाये। इस तरह शराब की सारी आमदनी को आप निःसंकोच छोड़ सकते हैं; लेकिन पहले तो आपको इस दूषित आमदनी को छोड़ देने का निश्चय करना चाहिए, और बाद में इस बात का विचार करना चाहिए कि शिक्षा के लिए पैसे कहाँ से मिल सकते हैं। इस तरह एक बड़ा क़दम उठाकर आप इसे शुरू कर सकते हैं।"

"लेकिन क्या शराब-बन्दी की घोषणा-मात्र कर देने से शराब-ख़ोरी बन्द हो जायेगी ? क्या यह नहीं हो सकता कि हमारे शराब की आमदनी को छोड़ देने पर भी शराब-ख़ोरी न मिटे, और मिटना तो दूर, ज़रा भी कम न हो ?"

"शराब-बन्दी की घोषणा का अर्थ यह नहीं है कि उसके बाद आप हाथ-पर-हाथ धरकर बैठ जायें ! बल्कि आप तो हरएक आदमी का अपने इस काम में उपयोग करेंगे। सरकारी नौकरों का दल आपके पास है ही—आबकारी इन्सपेक्टर, उनके अफ़सर और उनके अधीन काम करनेवाले छोटे कर्मचारियों का सारा दल आपके पास है। आप उनसे कहिये, कि शराब-ख़ोरी की पूरी-पूरी बन्दी के सिवा और किसी काम के लिए आपको उनकी नौकरी की ज़रूरत नहीं है—वे इसी शर्त्त पर नौकर रह सकते हैं ! शराब की हरएक दूकान को आप खेल-कूद और मनोरंजन का स्थान बना सकते हैं। जिन जगहों में शराब-ख़ोरी के लिए ज़्यादा-से-ज़्यादा सहूलियतें हों, वहाँ आप अधिक-से-अधिक

प्रयत्न कीजिये। आप मिल-मालिकों और कारखानेदारों से कहिये कि वे मज़दूरों के लिए अच्छे और सुन्दर उपहारगृह क़ायम करें। इन उपहारगृहों में गन्ने के रस के समान ताज़गी देनेवाले पेयों का प्रबंध किया जाये। खेल-कूद के साधन प्रस्तुत किये जायें। और मैजिक लैण्टर्न के प्रयोग दिखाये जायें। जिससे मज़दूरों के दिल में यह खयाल पैदा हो, कि दूसरे आदमियों कि तरह वे भी आदमी ही हैं! बिना किसी अपवाद के हरएक आदमी को आप अपने काम में शरीक करें। देहाती स्कूलों के शिक्षक और दूसरे अफ़सर और कर्मचारी सभी शराब-बन्दी के प्रचारक बन जायें।"

"बहुत ठीक; लेकिन कई जगह गाँवों के पटेल और दूसरे आदमी खुद शराबियों के साथ बैठकर शराब पीते हैं। उनका क्या कीजियेगा?"

"आपकी पाठशाला का हरएक विद्यार्थी शराब-बन्दी का काम करेगा। जहाँ शराब की दूकानों का स्थान मनोरंजन के स्थानों ने ले लिया होगा, वहाँ वे जायेंगे; साधारण लोगों के साथ बैठकर रस का या ऐसी ही किसी ताज़गी देनेवाली चीज़ का एकाध प्याला पीयेंगे और इस तरह इन स्थानों की प्रतिष्ठा बढ़ायेंगे।"

(कुछ ही दिन पहले मद्रास के एक मंत्री श्री रामन् मेनन ने एक सभा में कहा था कि इस महान् प्रयोग में सारे देश को दिलचस्पी लेनी चाहिए। शराब-बन्दी किसी एक आदमी का काम नहीं, बल्कि सारे देश का काम है।)

गांधीजी : "आप यह सोचकर हिम्मत न हारें, कि अमेरिका में शराब-बन्दी का प्रयोग असफल हुआ है; यह याद रखिये कि जिस देश में शराब का पीना दुर्गुण नहीं माना जाता, और जहाँ आमतौर पर करोड़ों लोग शराब पीते हैं, उस अमेरिका में यह प्रयोग किया गया था। हमारे देश में तो सभी धर्म शराब को त्याज्य समझते हैं; और यहाँ शराब के पीनेवाले करोड़ों नहीं, बल्कि कुछ इने-गिने लोग ही हैं।"

इससे पता चलता है, कि गांधीजी का मन किस दिशा में काम कर रहा है। उनकी यह इच्छा है कि दूसरे महासभावादी भी इसी दिशा में कार्य करने लगें। शराब-बन्दी के उद्योग को सफल बनाने के लिए राजाजी भगीरथ प्रयत्न कर रहे हैं। वे कई सभाओं में भाषण देते हैं। ऐसी एक सभा में उन्होंने कहा था : "अगर लोगों में मन की उदारता हो, तो उन्हें कह देना चाहिए कि हम शिक्षा

के बिना अपना काम चला लेंगे; लेकिन शराब-खोरी की जड़ को तो खोदकर ही रहेंगे। आखिर इस शिक्षा से फ़ायदा ही क्या है ? शराबी शराब के नशे में चूर रहता है, और शिक्षित शिक्षा के विलास में मस्त। ऐसे शिक्षित आदमी किसी शराबी से अधिक संस्कारी नहीं समझे जा सकते !"

—महादेव देसाई

(हरिजन, अगस्त १९३७)

शरीरश्रम क्या है ?

मध्यप्रान्त के शिक्षा-मंत्री श्री रविशंकर शुक्ल अपने शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टर मि० ओवन और मि० डिसिलवा के साथ अपने यहाँ के सभी शिक्षा-शास्त्रियों को लेकर पिछले हफ्ते गांधीजी से मिलने आये थे। आजकल की शिक्षा-प्रणाली में जो क्रान्ति गांधीजी कराया चाहते हैं, उसकी दिशा में प्रयोग शुरू करने से पहले वे गांधीजी से उनके विचार समझ लेना चाहते थे। गांधीजी ने उनसे कहा : "बालक राज्य से जो कुछ पाते हैं, उसका कुछ हिस्सा राज्य को वापस देने का तरीक़ा उन्हें सिखाकर मैं शिक्षा को स्वावलम्बी बनाना चाहता हूँ। आप जिसे आज प्राथमिक और माध्यमिक यानी हाईस्कूल की शिक्षा कहते हैं, उन दोनों को मैं जोड़ देना चाहता हूँ। मेरा तो यह दृढ़ विश्वास है कि आज हाईस्कूलों में हमारे बच्चों को अंग्रेज़ी के टूटे-फूटे ज्ञान के साथ गणित, इतिहास और भूगोल के उथले ज्ञान को छोड़कर और कुछ नहीं मिलता। इनमें से कुछ विषयों को तो वे प्राथमिक पाठशालाओं में मातृभाषा द्वारा सीख चुके होते हैं। आप जिन विषयों की शिक्षा आज देते हैं, उन्हें क़ायम रखकर सिर्फ़ अंग्रेज़ी को पाठ्यक्रम से हटा दें, तो बालकों की सारी पढ़ाई को ११ के बदले ७ वर्षों में पूरी कर सकते हैं, और जो मेहनत-मज़दूरी या शरीरश्रम का काम आप उनसे लेंगे, उससे राज्य को काफ़ी आमदनी भी हो सकती है। इस शरीरश्रम को सारी शिक्षा के केन्द्र में रखना पड़ेगा। मैंने सुना है कि मि० एबट और मि० वुड् ने गाँवों की शिक्षा के एक महत्त्वपूर्ण अंग के रूप में शारीरिक श्रम की उपयोगिता को स्वीकार किया है। मुझे खुशी इस बात की है कि

प्रतिष्ठित शिक्षा-शास्त्री मेरी बात का समर्थन करते हैं। लेकिन मैं नहीं जानता कि जिस तरह का ज़ोर शारीरिक श्रम पर मैं देता हूँ, वैसा ही वे भी देते हैं या नहीं। क्योंकि मैं तो कहता हूँ : मन का विकास हाथ-पैर की शिक्षा द्वारा होना चाहिए। हाथ-पैर की इस शिक्षा में स्कूल के संग्रहालय के लिए चीज़ें बनाने, या निकम्मे खिलौने तैयार करने का समावेश नहीं होता। बाज़ार में बिकने योग्य चीज़ें ही बननी चाहिएँ। कल-कारखानों के आरम्भकाल में बालक चाबुक या कोड़े के डर से काम करते थे; इन स्कूलों में वे ऐसा नहीं करेंगे। बल्कि वे इसलिए काम करेंगे कि उन्हें उससे दिलचस्पी है, और उनकी बुद्धि का विकास होता है।"

मि० डीसिल्वा ने कहा : "मैं इस बात को मानता हूँ कि शिक्षा सृजनात्मक कार्यों द्वारा दी जानी चाहिए; लेकिन सवाल यह है कि छोटी उम्र के सुकुमार बालक बड़ों के साथ कैसे होड़ कर सकते हैं ?"

"बालक बड़ों के साथ होड़ नहीं करेंगे। उनकी बनाई हुई चीज़ों को राज्य खरीद लेगा और उन्हें बाज़ार में बेचेगा। आप उन्हें ऐसी चीज़ें बनाना सिखाइये, जो सचमुच उपयोगी हों। उदाहरण के लिए इस चटाई को ले लीजिये। घर में जिस काम को करते हुए उनका दिल उचाट होता है, उसीको स्कूल में वे बुद्धि-पूर्वक करेंगे। आज आप जो शिक्षा देते हैं, वह जब स्वावलम्बी और स्वयंस्फूर्तिवाली बन जायेगी, तभी यह महा जटिल प्रश्न भी सरल हो जायेगा।"

"लेकिन बालकों को इस तरह की शिक्षा दे सकने से पहले हमें शिक्षकों की मौजूदा पीढ़ी को मिटा देना होगा।"

"नहीं। इसमें सन्धिकाल के बीच की स्थिति रखनी ही नहीं है। आपको तो यह काम शुरू कर देना है, और इसे करते-करते नये शिक्षक भी तैयार करने हैं।"

इस तरह की थोड़ी बातचीत के बाद, गांधीजी ने इन मित्रों को सलाह दी कि वे नवभारत विद्यालय के आचार्य श्री आर्यनायकम् से, डॉ० भारतन् कुमाराप्पा से, काका साहब से और दूसरे अनुभवी शिक्षा-शास्त्रियों से, जो वर्धा में मौजूद हैं, मिलें। इस लेख के लिखते समय वे एक व्यावहारिक योजना तैयार करने के विषय में बहुत ही उपयोगी चर्चा कर रहे हैं। आशा है, उनकी इस चर्चा का परिणाम कुछ ही दिनों में हमें मालूम हो सकेगा।

इस बीच, गांधीजी शारीरिक श्रम का जो अर्थ करते हैं, उसपर अधिक प्रकाश डालने में सहायक होनेवाली कुछ बातें नीचे देना चाहता हूँ। एक सज्जन कुछ वर्षों से अपने स्कूल में हाथ-पैर की और साक्षरता की शिक्षा साथ-साथ देते रहे हैं; गांधीजी ने उनके नाम जो पत्र लिखा है, उसमें वह कहते हैं :

"इस सिद्धान्त को, कि कताई और पिंजाई आदि बौद्धिक शिक्षा के साधन होने चाहिएँ, आप शायद ठीक-से पचा नहीं पाये हैं। आपने उसे बौद्धिक पाठ्यक्रम के पूरक के रूप में अपनाया है। मैं चाहता हूँ कि आप इन दोनों के भेद को समझ लें। जैसे : एक बढ़ई मुझे बढ़ईगिरी सिखाता है। मैं उससे इस चीज़ को यंत्र की तरह सीख लूँगा, और फलतः कई तरह के औज़ारों का उपयोग करना भी सीख जाऊँगा, लेकिन उससे मेरी बुद्धि का विकास शायद ही हो सकेगा। लेकिन इसी चीज़ को जब मैं किसी बढ़ईगिरी के शास्त्र को जाननेवाले शिक्षक से सीखूँगा, तो वह बढ़ईगिरी के साथ-साथ मेरी बुद्धि का भी विकास करता चलेगा। ऐसा करते-करते मैं एक होशियार बढ़ई ही नहीं, बल्कि इंजीनियर भी बन जाऊँगा। क्योंकि वह कुशल बढ़ई मुझे गणित सिखायेगा; तरह-तरह की लकड़ियों का भेद समझायेगा; कौनसी लकड़ी कहाँ से आती है, इसका पता देगा; और इस प्रकार भूगोल के साथ खेती का भी थोड़ा ज्ञान करा देगा। वह मुझे अपने औज़ारों के चित्र बनाना भी सिखायेगा, और इस तरह प्राथमिक ज्यामिति का और गणित का ज्ञान करायेगा। हो सकता है कि आपने केवल वाचन-लेखन द्वारा दिये जानेवाले बौद्धिक-शिक्षण का हाथ-पैर के साथ मेल न मिलाया हो। मुझे क़बूल करना चाहिए कि अबतक तो मैंने यही कहा कि हाथ-पैर की शिक्षा बुद्धि की शिक्षा के साथ-साथ दी जानी चाहिए और राष्ट्रीय शिक्षा में उसका मुख्य स्थान होना चाहिए। लेकिन अब मैं यह कहता हूँ कि बुद्धि के विकास का मुख्य साधन हाथ-पैर की शिक्षा होनी चाहिए। जिस कारण से मैं इस निर्णय पर पहुँचा हूँ, वह यह है कि मैं देख रहा हूँ कि आज हमारे बालकों की बुद्धि का दुरुपयोग हो रहा है। हमारे लड़कों को कुछ पता ही नहीं चलता कि स्कूल छोड़ने के बाद उन्हें क्या करना होगा। सच्ची शिक्षा तो वही कही जायेगी, जो बालकों की आध्यात्मिक, बौद्धिक और शारीरिक शक्तियों को प्रकट करती, और उनका विकास करती है। यदि उन्हें ऐसी शिक्षा मिले, तो वह बेकारी के लिए बीमे का काम दे सकती है।"

(हरिजन, ११ सितम्बर, १९३७) —महादेव देसाई

स्वावलम्बी शिक्षा

आजकल गांधीजी का स्वाथ्य अच्छा नहीं है, और उन्हें पूरा-पूरा आराम करने की आवश्यकता है। फिर भी, जो कोई भी सज्जन, जिन्होंने स्वावलम्बी शिक्षा के उनके सिद्धान्त पर कुछ सोचा है, उसकी चर्चा के लिए उनके पास आते हैं, या इस नये प्रयोग को सफल बनाने में अपनी ओर से कुछ करने की इच्छा प्रकट करते हैं, उनके साथ इस विषय की चर्चा करने की तत्परता वे बराबर बताते रहते हैं। उनके दुर्बल स्वास्थ्य के कारण चर्चायें कम होती हैं, संक्षिप्त होती हैं, लेकिन हरएक चर्चा से कुछ-न-कुछ नई जानने योग्य चीज़ निकलती है। और, जब-जब गांधीजी इस विषय की चर्चा करते हैं, तब-तब एक-न-एक नई सूचना अथवा नया प्रकाश डालनेवाली बात कहते हैं। एक बार उन्होंने कहा कि कोई यह न समझे कि स्वावलम्बी शिक्षा की कल्पना संपूर्ण शराब-बन्दी के कारण उत्पन्न हुई है; और फिर आगे कहने लगे : "आपको इस दृढ़ विश्वास के साथ ही आरम्भ करना चाहिए कि आमदनी हो या न हो, शिक्षा दी जाये या न दी जाये, फिर भी सम्पूर्ण शराब-बन्दी तो करनी ही होगी। इसी तरह आपको यह दृढ़ श्रद्धा रखकर श्रीगणेश करना चाहिए, कि हिन्दुस्तान के गाँवों की आवश्यकताओं को देखते हुए, अगर हम गाँवों की शिक्षा को अनिवार्य बनाना चाहते हैं, तो वह शिक्षा स्वावलम्बी ही होनी चाहिए।"

एक शिक्षा-शास्त्री, जो गांधीजी से चर्चा कर रहे थे, बोले : "पहली-श्रद्धा तो मेरे मन में गहरी जड़ जमा चुकी है। और उसीको मैं बहुत बड़ी शिक्षा समझता हूँ। अतएव शराब-बन्दी को सफल बनाने के लिए शिक्षा का बिलकुल ही त्याग करना पड़े, तो मैं ज़रा भी न हिचकिचाऊँगा। लेकिन दूसरी श्रद्धा मेरे मन में बस नहीं रही है। मैं आज भी यह मानने को तैयार नहीं हूँ कि शिक्षा स्वावलम्बी बनाई जा सकती है।"

"मैं चाहता हूँ कि इसमें भी आप वैसी ही श्रद्धा से काम शुरू करें। जब आप इसका अमल शुरू करेंगे, तो इसके साधन और मार्ग आपको सहज ही सूझने लगेंगे।

इस तरह का प्रयोग मैं खुद ही करता; अब भी अगर ईश्वर की कृपा रही, तो मैं अपने भरसक यह सिद्ध करने की कोशिश करूँगा कि शिक्षा किस प्रकार स्वावलम्बी बन सकती है। लेकिन पिछले कई वर्षों से मेरा सारा समय दूसरे-दूसरे कार्यों में खर्च होता रहा है; और शायद वे काम भी उतने ही महत्त्व के थे। लेकिन इधर सेगाँव में रहने के कारण इसके विषय में मुझे बहुत ही पक्का विश्वास हो गया है। अबतक हमने लड़कों के दिमाग़ में हर तरह की जानकारी ठूँसने का ही यत्न किया है; मगर इस बात को कभी सोचा भी नहीं कि उनके दिमाग़ कैसे खुलें और किस तरह उनकी तरक्क़ी हो। अब हमें 'रुक जाओ!' (हॉल्ट) कहकर शारीरिक काम द्वारा बालक को समुचित शिक्षा देने के काम में अपनी शक्तियाँ लगा देनी चाहिएँ। शिक्षा में शारीरिक काम का स्थान गौण न हो; बल्कि वही बौद्धिक शिक्षा का मुख्य साधन रहे।"

"मैं इस चीज़ को भी समझ सकता हूँ, लेकिन आप यह शर्त्त क्यों लगाते हैं, कि इससे स्कूल का सब खर्च भी निकलना चाहिए?"

"इस शर्त्त से हम इस बात की परीक्षा कर सकेंगे, कि इस तरह का शारीरिक काम कितना मूल्यवान् है। चौदह वर्ष की उम्र में, अर्थात् ७ साल की पढ़ाई समाप्त करने के बाद, जब बालक स्कूल से निकले, तो उसमें कुछ कमाने की शक्ति आ जानी चाहिए। आज भी ग़रीबों के बालक अपने-आप अपने मा-बाप की सहायता करते हैं। उनके मन में यह ख़याल होता है, कि अगर हम अपने मा-बाप के साथ काम न करेंगे, तो क्या वे खायेंगे और क्या हमें खिलायेंगे? यही एक शिक्षा है। इसी तरह सरकार सात साल की उमर में बालक को अपने कब्ज़े में ले, और उसे कमाऊ बनाकर वापस मा-बाप को सौंप दे। इस तरीक़े से आप शिक्षा भी देंगे और साथ ही बेकारी की जड़ को भी काटते चलेंगे। यह आवश्यक है, कि आप किसी-न-किसी धन्धे की शिक्षा बच्चों को ज़रूर दें। इस मुख्य उद्योग के आस-पास आप उस शिक्षा का प्रबन्ध करेंगे, जो बालक के मस्तिष्क, शरीर, साहित्य, और कलाभिरुचि के विकास में सहायक होगी। बालक जो कारीगरी सीखेगा, उसका वह निष्णात भी बनेगा।"

"मान लीजिये कि एक लड़का खादी-निर्माण की कला और शास्त्र को सीखना शुरू करता है; तो क्या आप यह समझते हैं कि उस कला में निष्णात बनने के लिए उसे पूरे सात वर्ष लग जायेंगे?"

"जी हाँ; अगर वह यन्त्र की तरह न सीखे, तो सात साल ज़रूर लगने चाहिएँ। हम इतिहास के अथवा भाषा के अध्ययन के लिए इतने सारे वर्ष क्यों खर्च करते हैं? इन विषयों को अबतक जो बनावटी बड़प्पन दिया जाता है, क्या उसके मुक़ाबिले इस उद्योग का महत्त्व कुछ कम है?"

"लेकिन आप तो प्रधानतया कताई और पिंजाई का विचार करते हैं। इससे तो ऐसा मालूम होता है कि आप इन स्कूलों को बुनाईशाला बनाना चाहते हैं! किसी बालक की रुचि बुनाई की तरफ़ न हो, और दूसरी किसी चीज़ में हो, तो उसके लिए आप क्या कीजियेगा?"

"सच है; उस दशा में हम उसे कोई दूसरा उद्योग सिखायेंगे। लेकिन आपको जानना चाहिए कि एक स्कूल में बहुत-से उद्योग सिखाने का प्रबन्ध न हो सकेगा। खयाल यह है कि हमें हर २५ विद्यार्थियों के लिए एक शिक्षक रखना चाहिए, और, जितने शिक्षक मिलें, उतने पचीस-पचीस विद्यार्थियों की कक्षाओं या पाठशालाओं का प्रबन्ध करना चाहिए; और इनमें से हरएक पाठशाला में एक-एक अलग-अलग उद्योग का, जैसे, बढ़ईगिरी, लुहारी, चमारी या मोचीगिरी का शिक्षण देना चाहिए। आपको सिर्फ़ एक बात ध्यान में रखनी चाहिए कि इनमें से हरएक उद्योग द्वारा हमें बालकों के मन का विकास करना है। इसके सिवा एक दूसरी बात पर भी मैं ज़ोर देना चाहता हूँ: आपको शहरों का खयाल छोड़ देना चाहिए, और सारी शक्ति का उपयोग गाँवों में करना चाहिए। गाँव महासागर हैं, और शहर इस सागर में बूँद की तरह हैं। इसीलिए इसके सिलसिले में आप ईंट वग़ैरा बनाने का विचार नहीं कर सकते। जो लड़के इञ्जीनियर बनना चाहेंगे, वे सात साल की पढ़ाई के बाद उच्च और विशिष्ट अध्ययन के लिए कॉलेजों में जायेंगे।

"एक और चीज़ पर भी मैं ज़ोर देना चाहता हूँ। हमारी आदत हो गई है, कि हम गाँवों के उद्योग-धन्धों को कोई चीज़ नहीं समझते। क्योंकि हमने शिक्षा को शारीरिक श्रम से अलग रक्खा है। शरीरश्रम को कुछ हलका स्थान दिया गया है, और वर्ण-संकरता के प्रचार के कारण, आज हम कत्तिनों, जुलाहों, बढ़इयों और मोची वग़ैरा को, हलकी या गुलाम जाति का समझने लगे हैं। चूँकि हमने उद्योग को कुछ हलका समझा, यानी बुद्धिमानों की शान के कुछ खिलाफ़ समझा,

इसीलिए हमारे यहाँ क्राम्पटन और हारग्रीव के समान यंत्र-शास्त्री उत्पन्न न हुए। यदि हमने इन धन्धों की स्वतन्त्र प्रतिष्ठा मानी होती, और इनके दर्जे को विद्वत्ता के समान ही ऊँचा समझा होता, तो हमारे कारीगरों के अन्दर से भी बड़े-बड़े आविष्कारक अवश्य पैदा हुए होते। इसमें कोई शक नहीं कि यंत्रों के आविष्कार के साथ-ही-साथ मिलें खड़ी हो गईं और उन्होंने हज़ारों को बेकार बना दिया। मैं मानता हूँ कि यह एक आसुरी चीज़ थी। यदि हम अपनी समस्त शक्ति को गाँवों में खर्च करेंगे, तो कला-कारीगरी या दस्तकारियों के एकाग्र अभ्यास से जो शोधक बुद्धि जागृत होगी, वह गाँवों के तमाम लोगों की ज़रूरतों को पूरा करेगी।"

(हरिजन, १८ सितम्बर, १९३७) —महादेव देसाई

सेगाँव-पद्धति

१. पूज्य गांधीजी द्वारा प्रतिपादित शिक्षा की योजना को इस लेख में 'सेगाँव-पद्धति' कहा गया है।

२. यह योजना बताती है कि एक बालक को आगे चलकर मनुष्य-परिवार में एक ज़िम्मेवार कुटुम्बीजन का स्थान लेने लायक बनाने के लिए हम किस प्रकार अहिंसा का प्रयोग कर सकते हैं।

३. इस योजना के सम्बन्ध में व्यापक रूप से यह दावा किया गया है कि यदि हमें मानव-समाज में खूनी यानी लड़ाकू वृत्ति के स्थान पर शान्ति-स्थापक वृति निर्माण करनी है, तो आवश्यक फेरफारों के साथ यह तमाम देशों में और सभी जातियों में काम दे सकती है। हिन्दुस्तान के लिए तो आज यही एक उपयुक्त पद्धति है।

४. इस पद्धति का ध्येय यह है कि बच्चे के अन्दर भले-बुरे का खयाल पैदा होते ही उसे सामाजिक जीवन के कर्त्तव्यों में भाग लेना शुरू करा देना चाहिए।

५. इस पद्धति का मध्यबिन्दु होगा, कोई उत्पादक पेशा। आमतौर पर हर क़िस्म की शिक्षा इस उद्योग के ज़रिये और इसके साथ गूँथ दी जानी चाहिए। उदाहरणार्थ, इतिहास, भूगोल, गणित, भौतिक तथा सामाजिक शास्त्र एवं साहित्य आदि सब विषयों की शिक्षा इस उद्योग के साथ ग्रथित करके इसके साथ-साथ दी जानी चाहिए। इन विषयों की अन्य बातें छोड़ी नहीं जायेंगी। पर ग्रथित शिक्षा पर अधिक ज़ोर दिया जायेगा।

६. उद्योग भी शिक्षा का केवल साधन या वाहन नहीं होगा। बल्कि जिस हद तक वह मानव जीवन में अनिवार्यतः आवश्यक है, उस हदतक वह हमारी शिक्षा का साध्य भी होगा। अर्थात् इस शिक्षा का यह भी एक ध्येय होगा कि इसके द्वारा हर तरह के शरीरश्रम के प्रति, चाहे वह भंगी का ही काम क्यों न हो, बालक में आदर-भाव उत्पन्न हो। और, उसमें एक ऐसी कर्त्तव्य-निष्ठा उत्पन्न हो, कि उसे अपनी रोज़ी भी ईमानदारी के साथ शरीरश्रम द्वारा ही प्राप्त करनी चाहिए।

७. इस पद्धति के अनुसार पढ़ानेवाले शिक्षक का लक्ष्य यह होगा कि विद्यार्थी जो भी उद्योग सीखे, उसीके ज़रिये उसकी तमाम शारीरिक, बौद्धिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक शक्तियाँ प्रकट हों।

८. इसमें समाज-शास्त्र तथा आरोग्य-शास्त्र केवल वर्ग-शिक्षण के विषयों के रूप में ही न पढ़ाये जायें, बल्कि भिन्न-भिन्न रीति से मूक प्राणियों सहित सारे गाँव की सेवा करने के लिए, सामाजिक तथा व्यक्तिगत कार्यक्रम बनाकर, उनके द्वारा, इन विषयों की प्रत्यक्ष शिक्षा दी जाये। इस नवीन विद्यालय की हस्ती एक दीप-स्तम्भ की तरह हो, जो समाज पर चारों तरफ़ से संस्कृति का प्रकाश फैलाता रहे।

९. संक्षेप में कहें, तो हाथ और ज्ञानेन्द्रियों द्वारा यह पद्धति व्यक्ति की बुद्धि और हृदय को सुसंस्कृत करे और विद्यालय के ज़रिये उसे समाज तथा परमात्मा तक पहुँचाये।

१०. शाला के सामुदायिक जीवन में रहकर रोज़ तीन या चार घण्टे तक सह-परिश्रम करना लड़कों-लड़कियों के लिए आरोग्यदायक और उत्तम रीति से शिक्षाप्रद

भी है। "मनुष्य चाहे किसी भी श्रेणी का हो, विज्ञान और उद्योग, दोनों, के विकास के लिए और सारे समाज के सामूहिक लाभ की दृष्टि से भी उसे ऐसी शिक्षा मिलनी चाहिए कि वह विज्ञान की पूरी शिक्षा के साथ-साथ दस्तकारी की शिक्षा को जोड़ सके।" —(क्रोपाटकिन)

११. मौजूदा शिक्षा-पद्धति में तो अधिकांश विद्यार्थी अपनी कॉलेज की पढ़ाई समाप्त कर लेने पर भी यह निश्चय नहीं कर पाते कि आगे वे क्या काम करेंगे ? हम अक्सर देखते हैं कि ऐसे बहुत-से लड़के और लड़कियाँ, जिनके घर की स्थिति बहुत ज्यादा खराब नहीं होती, प्राथमिक शाला से माध्यमिक शालाओं में और वहाँ से कॉलेजों में भारी खर्च उठाकर जाते रहते हैं। इसका कारण यह नहीं कहा जा सकता कि वे इन विद्यालयों में सिर्फ़ उन शुभ संस्कारों को पाते जाते हैं, जिनका कि ये संस्थायें दावा करती हैं। वास्तव में तो वे इसलिए पढ़ते चले जाते हैं कि उन्हें कुछ सूझता ही नहीं कि इसके अलावा वे और क्या कर सकते हैं। जीविका कमाने के लिए किसी उपयुक्त धन्धे के चुनाव की घड़ी को, जहाँतक बन पड़ता है, वे आगे ठेलते जाते हैं, और इस तरह एक के बाद एक इम्तिहानों में बैठते चले जाते हैं। जिस स्त्री अथवा पुरुष को अपने जीवन के प्रारम्भिक बीस-पचीस साल इस तरह निरुद्देश्य बिताने पड़ते हैं, उसके अन्दर दीर्घसूत्रता, संशयवृत्ति, अनिश्चितता और अपने-आप किसी निर्णय पर पहुँचने की अक्षमता आये बगैर रही नहीं सकती। सेगाँव-पद्धति का उद्देश्य यह है कि प्रत्येक बालक या बालिका को वह जल्दी-से-जल्दी इस बात का निर्णय करा दे कि उसे अपने भावी जीवन में कौन-सा व्यवसाय करना होगा; उसे किसी एक धन्धे की कम-से-कम इतनी तालीम भी ज़रूर दे दे, जिससे वह जीवन के समुचित धारण-पोषण के लिए आवश्यक न्यूनतम कमाई अवश्य कर सके।

१२. साक्षरता को यानी लेखन-वाचन द्वारा अनेक विषयों की जानकारी को तथा तार्किक अथवा ऐसी ही अन्य चर्चाओं को समझने की शक्ति को इस सेगाँव-पद्धति में न तो ज्ञान माना गया है और न ज्ञान का साधन ही। बल्कि, इसमें तो उसे ज्ञान अथवा अलंकृत अज्ञान को प्रकट करने की सांकेतिक पद्धति-मात्र माना है। इन संकेतों का ज्ञान तो तब उपयोगी और ज़रूरी हो सकता है, जब ज्ञान की जड़ें हरी हों। सेगाँव-पद्धति का उद्देश्य यह है कि इन जड़ों को हरा-भरा रक्खा जाये। इसके साधन हैं : प्रत्यक्ष काम, अवलोकन, अनुभव, प्रयोग और सेवा। इनके बगैर कोरी किताबी पढ़ाई विद्यार्थी के

हृदय और बुद्धि के विकास में विघ्नरूप सिद्ध होती है और उसके शरीर को भी नुकसान पहुँचाती है।

१३. सेगाँव-पद्धति के अनुसार जो पढ़ाई होगी, और उसमें विद्यार्थी को पढ़ाई की बुनियाद के रूप में जो कुछ सिखाया जायेगा, उसमें नीचे लिखे विषयों का समावेश होना ज़रूरी है : मातृभाषा का अच्छा ज्ञान, मातृभाषा के साहित्य का साधारण परिचय, देश की राष्ट्रभाषा का व्यावहारिक ज्ञान, गणित, इतिहास, भूगोल, भौतिक तथा सामाजिक शास्त्र, आलेखन, संगीत, क़वायद, खेल-व्यायाम वग़ैरा। इन विषयों का साधारण ज्ञान, और किसी एक धन्धे में इतनी कुशलता कि जो साधारण शक्तिवाले विद्यार्थी को मामूली कमाई करने की शक्ति दे सके; और अगर वह होशियार तथा परिश्रमी भी हो, तो उसे इस लायक़ बना दे कि वह साहित्यिक अथवा औद्योगिक क्षेत्र में अधिक शिक्षा पाने का पात्र बन जाये। इस 'बुनियादी पढ़ाई' में नीचे लिखे विषयों का समावेश आवश्यक नहीं है : अंग्रेज़ी अथवा ऐसे तमाम विषय, व्यवहार में साधारणतया जिनकी ज़रूरत नहीं होती; अथवा बुद्धि के विकास के लिए जो अनिवार्यतः आवश्यक नहीं होते; या खुद-ब-खुद अपनी शिक्षा को आगे बढ़ाने की पूर्व तैयारी के रूप में जिनकी ज़रूरत नहीं रहती।

१४. 'बुनियादी शिक्षा' का अध्ययन-क्रम सात वर्ष से कम का नहीं होना चाहिए। हाँ, अगर ज़रूरत हो, तो समय बढ़ाया ज़रूर जा सकता है। अगर आगे लिखे अनुसार शालायें स्वावलम्बी हो सकीं, और विद्यार्थियों के पालकों को भी इनसे कुछ लाभ मिल सका, तो बच्चों को अधिक समय तक पढ़ाने में उनके पालकों को कोई कठिनाई न होगी।

१५. सेगाँव-पद्धति के सम्बन्ध में राज्य के कुछ कर्त्तव्य तथा जीवन-वेतन की कम-से-कम मर्यादा के विषय में कुछ सिद्धान्त निश्चित कर लिये गये हैं। वे नीचे दिये जा रहे हैं।

१६. जो स्त्री या पुरुष मेहनत करने के लिए तैयार हों और जिन्हें सरकार पढ़ने के लिए मजबूर करे, सरकार का कर्त्तव्य है कि वह उन्हें काम दे और काम के बदले में कम-से-कम इतना वेतन ज़रूर दे, जिससे उनका ठीक तरह निर्वाह हो जाये। जिस सरकार में इतना करने की शक्ति नहीं है, वह 'राज्य' कहलाने की पात्रता नहीं रखती।

१७. ऐसा अनुमान किया गया है कि आजकल के बाज़ार-भावों के अनुसार हिन्दुस्तान में समुचित निर्वाह के लिए 'पूरा काम' करनेवाले आदमी का मेहनताना फ़ी घण्टा एक आने से कम नहीं पड़ना चाहिए। 'पूरा काम' यहाँ उतना काम समझा जाये, जितना (तालीम पाया हुआ) एक साधारण आदमी घण्टे भर में कर सके।

१८. हमारे देश की वर्तमान शासन-पद्धति तथा समाज की रचना भी इस कसौटी पर खरी नहीं उतरती। इसलिए हमारे देश की सरकारें 'राज्य' कहलाने की पात्रता नहीं रखतीं। इस खामी का कारण चाहे विदेशी सत्ता हो, या खुद हमीं हों, इसे दूर तो करना ही पड़ेगा। सेगाँव-पद्धति का दावा है कि अगर उसपर साहसपूर्वक और सच्चे दिल से अमल किया जाये, तो राज्य में तथा समाज में आवश्यक फेर-फार करने के साधन और शक्ति वह हमें देगी।

१९. इसके लिए राज्य को कम-से-कम एक उद्योग को अपनाना होगा; और वह उद्योग ऐसा होगा, जिसमें वह लगभग असंख्य आदमियों को काम दे सके और फिर भी उसे खुद घाटा न उठाना पड़े।

२०. हिन्दुस्तान के लिए तो हाथ-कताई और हाथ-बुनाई ही एक ऐसा धन्धा है। इसमें कच्चे माल की, थोड़ी पूँजी से काम चल निकलने की, और अपार मनुष्य-बल आदि की वे सारी स्वाभाविक अनुकूलतायें हैं, जो इसे देश का खास उद्योग बना देने के लिए आवश्यक हैं। फिर, इसके पीछे लम्बी परम्परा भी तो है। क्योंकि सैकड़ों वर्ष तक हिन्दुस्तान ही ने संसार को सूत से ढँका है।

२१. यों तो पहले ही कातने की मज़दूरी असंतोषकारक थी; पर आगे चल कर वह कलों के बने माल की प्रतिस्पर्द्धा में और भी अधिक घट गई। राज्य तथा जनता को चाहिए कि वे इस प्रतिस्पर्द्धा को मिटा दें। और जबतक वे ऐसा नहीं कर सकते, खादी-उद्योग को जिलाने के लिए, प्रतिस्पर्द्धा की किसी प्रकार परवा किये बग़ैर, वे कातनेवाले को इतनी मज़दूरी देना शुरू कर दें, जिससे उसका अच्छी तरह निर्वाह हो सके।

२२. इसी तरह सभी प्रकार की मज़दूरी की दर बढ़ाने की ज़रूरत है, जिससे मज़दूरों का धारण-पोषण पूरी तरह हो सके। सरकार को चाहिए कि ऐसा करने की शक्ति

वह प्राप्त करे। जनता का भी कर्तव्य है कि इस काम में सरकार की मदद करे, जिससे वह इस लायक बन जाय !

२३. ऊपर बताई हुई अल्पतम मज़दूरी बड़ी उम्र के आदमी के लिए है। सेगाँव-पद्धति की शाला के विद्यार्थी के लिए उसकी दर फ़ी घंटा आध आना पड़ती है।

२४. यदि हम रोज़ाना काम के तीन घण्टे मान लें, और यह मान लें कि साल में नौ महीने शाला लगेगी, तो सेगाँव-पद्धति की शाला की कुशलता की कसौटी यह होगी कि सात दर्जों (हर दर्जे में २५ विद्यार्थी) और लगभग आठ-नौ शिक्षकोंवाली शाला की आय इतनी हो जानी चाहिए कि अगर उपर्युक्त हिसाब से मज़दूरी आँकी जाये, तो उसमें से शिक्षकों का वेतन निकल आये। शिक्षक का वेतन कम-से-कम रु० २५) मासिक मान लिया गया है। वह रु० २०) मासिक से कम तो किसी हालत में न होगा।

२५. विद्यार्थियों की कार्यशक्ति , साधन तथा शिक्षा-पद्धति में इतने सुधार हो जाने चाहिएँ कि कुशलता की उपर्युक्त कसौटी पर कम-से-कम प्रत्येक शाला खरी उतर सके।

२६. उपर्युक्त दर से शाला के विद्यार्थी की मज़दूरी आँकते हुए, और गाँवों में खानगी कारीगरों को आज जो मज़दूरी मिलती है, उसका विचार करते हुए, इसबात का कोई भय नहीं रहता कि खानगी कारीगरों के माल के साथ शालाओं के माल की प्रतिस्पर्धा होगी। गाँवों के कारीगरों की मज़दूरी की दर को इस सीमा तक आने में थोड़ा समय लगेगा, और तबतक तो देहाती कारीगरों की कार्य-शक्ति और साधनों में भी इतने ही सुधार हो चुके होंगे। इसलिए यहाँ प्रतिस्पर्धा का भय रखने की कोई ज़रूरत ही नहीं।

२७. फिलहाल तो शाला को उपर्युक्त मज़दूरी चुकाने का आश्वासन सरकार को दे ही देना चाहिए। कम-से-कम चर्खा-संघ तथा ग्रामोद्योग-संघ द्वारा मंजूर की गई दर तो ज़रूर देनी चाहिए। और जबतक विद्यार्थी को फ़ी घंटा आध आना मज़दूरी नहीं पड़ जाती, ये संस्थायें ज्यों-ज्यों अपने यहाँ मज़दूरी की दर बढ़ाती जायें, त्यों-त्यों शालाओं की मज़दूरी की दर भी बढ़ती जानी चाहिए। इसपर शायद यह आक्षेप किया जायेगा कि यह तो शाला को अप्रत्यक्ष रूप से सहायता करने की बात हुई। और यह कि इससे, मौजूदा बाज़ार-भावों को देखते हुए, सरकार पर बहुत अधिक आर्थिक बोझ पड़ेगा। मगर

कारीगरों की कार्यशक्ति और साधनों में भी सुधार के लिए इतनी गुंजाइश है कि हम यह आशा रख सकते हैं कि पदार्थों की अधिक क़ीमत बढ़ाये बिना भी, पाँच वर्ष के अन्दर शाला में अथवा खानगी तौर से तालीम पाया हुआ प्रत्येक कारीगर हक़ के साथ जीवन-वेतन की न्यूनतम मर्यादा तक पहुँचने की शक्ति प्राप्त कर लेगा।

२८. यह जो सिद्धान्त कहा गया है कि ऊपर बताये अर्थ में प्रत्येक शाला को स्वाश्रयी हो जाना चाहिए, उसमें केवल आर्थिक दृष्टि ही नहीं है। बल्कि यह शाला के औद्योगिक विभाग की कुशलता की व्यावहारिक कसौटी के रूप में रक्खा गया है।

२९. यहाँ केवल खादी-उद्योग द्वारा 'बुनियादी पढ़ाई' की दृष्टि से सेगाँव-पद्धति का सांगोपांग विचार किया गया है। इससे कोई यह न समझे कि इसमें हम अन्य उद्योगों को प्रोत्साहन नहीं देना चाहते। बात यह है कि दूसरे उद्योगों के सम्बन्ध में योजना बनाने और अनुमान निकालने के लिए अभी हमारे पास आवश्यक सामग्री नहीं है।

३०. सेगाँव-पद्धति के सिद्धान्त आवश्यक फेरफारों के साथ उसके बाद की शिक्षा में भी प्रयुक्त किये जाने चाहिएँ। हर प्रकार की शिक्षा में स्वाश्रय को तो स्थान होना ही चाहिए। उच्च शिक्षा में संस्था का खर्च या तो विद्यार्थियों की मेहनत से निकल आना चाहिए या फ़ीस से। और अगर फ़ीस न देनी पड़ती हो, तो विद्यार्थी अपना खर्च शाला में या बाहर कहीं मज़दूरी करके निकाल ले।

—किशोरलाल मशरूवाला।

कार्य-विवरण

अखिल भारत शिक्षा-परिषद्, वर्धा

२२-२३ अक्तूबर, १९३७

एक क़दम आगे

पिछली २२-२३ अक्तूबर, १९३७ को वर्धा में जो शिक्षा-परिषद् हुई थी, उसकी कार्रवाई का पूरा विवरण इस पुस्तक के रूप में अब जा रहा है। जनता के सामने और महासभा के मंत्रियों के सामने मेरी तजवीज़ को पेश करने के काम में इस परिषद् के कारण एक नया और महत्त्व का अध्याय शुरू होता है। परिषद् में महासभा के इतने मंत्रियों का उपस्थित होना भी एक शुभ चिह्न ही था। जिस विचार का विरोध और आलोचना इस परिषद् में खासतौर पर की गई, वह स्वावलम्बी शिक्षा का विचार था, हालाँकि स्वावलम्बन की इस शर्त को भी मैंने तो संकुचित कर दिया था। इसलिए परिषद् ने जो प्रस्ताव पास किये हैं, उनमें बहुत सावधानी से काम लिया गया है। इसमें तो कोई शक नहीं, कि परिषद् को बिलकुल अनजाने समुद्र में अपनी नाव खेनी थी। उसके सामने पहले का एक भी सम्पूर्ण दृष्टान्त न था। लेकिन जो विचार मैंने रक्खा है, अगर वह सच है, तो व्यवहार में उसका उपयोग ज़रूर हो सकेगा। आखिर इसकी ज़िम्मेदारी तो उन लोगों पर आकर पड़ती है, जिन्हें स्वावलम्बनवाले हिस्से पर श्रद्धा है। उनका काम है कि वे इस विचार के अनुसार पाठशालायें चलाकर इसकी सचाई को साबित कर दिखायें।

परिषद् में इस प्रश्न पर तो सबका आश्चर्यजनक एकमत था कि माध्यमिक पाठ्यक्रम से अंग्रेज़ी को निकालकर बाक़ी के विषयों के साथ पूरी प्राथमिक शिक्षा किसी-न-किसी उद्योग द्वारा ही दी जानी चाहिए। यह हक़ीक़त कि हमें लड़कों और लड़कियों में रहे हुए पूर्ण पुरुषत्व और स्त्रीत्व को उद्योग द्वारा विकसित करना है, अपने आप ही हमारे मदरसों को कारखाने बनने से रोकेगी। क्योंकि उद्योग की शिक्षा पाकर लड़कों और लड़कियों को उन-उन उद्योगों में जिस हद तक निष्णात बनना होगा, उसके सिवा, उन्हें जो दूसरे विषय सिखाये जायेंगे, उनमें भी उनको उतनी ही योग्यता बतानी होगी।

व्यवहार में इस योजना का अमल कैसे हो सकेगा, और बालक-बालिकाओं को साल-दरसाल क्या-क्या सीखना होगा, इसका पता हमें डॉ० ज़ाकिर हुसैन की समिति के परिश्रम से चलेगा।

एक आपत्ति यह की गई है कि परिषद् में जो प्रस्ताव पास होनेवाले थे, उनका निश्चय पहले ही कर लिया गया था। यह आपत्ति बिलकुल निराधार है। दरअसल यह मुमकिन न था कि सारे देश के शिक्षा-शास्त्रियों को ज्यों-त्यों चुनकर बुलाया जाता, और जिस योजना को वे निश्चय ही क्रान्तिकारक समझते थे, उसपर एकाएक अपनी राय ज़ाहिर करने को उनसे कहा जाता। इसलिए सिर्फ़ ऐसे सज्जनों को ही परिषद् में आमन्त्रित किया गया, जिन्हें शिक्षक के नाते उद्योग द्वारा शिक्षा का अनुभव था। ख़ुद मुझे इस बात का ख़याल न था कि राष्ट्रीय शिक्षा का काम करनेवाले मेरे साथी इस नई कल्पना का यों समभाव-पूर्वक स्वागत करेंगे। ज़ाकिर हुसैन समिति के मारफ़त जब यह तजवीज़ अपने सम्पूर्ण रूप में जनता के सामने आयेगी, तब शिक्षा-शास्त्रियों के बड़े समूह को इसपर विचार करने के लिए आमन्त्रित किया जायगा। जिन शिक्षा-शास्त्रियों के पास इस काम में सहायता पहुँचाने योग्य सूचनायें हों, उनसे मेरा निवेदन है कि वे अपनी सूचनायें समिति के मंत्री श्री **आर्यनायकम्** के पास वर्धा के पते से भेजें।

परिषद् में एक वक्ता ने बड़े ज़ोर के साथ यह कहा कि छोटे बालकों की शिक्षा का काम पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ अच्छी तरह कर सकती हैं; और उनमें भी कुमारिकाओं की अपेक्षा मातायें ज्यादा अच्छी तरह कर सकती हैं। दूसरी दृष्टि से भी **अध्यापक शाह** की अनिवार्य सेवावाली योजना में बहनें अधिक अनुकूलता-पूर्वक भाग ले सकती हैं। जिन देश-प्रेमी महिलाओं के पास फ़ुरसत है, इसमें शक नहीं कि उनके लिए इस सबसे महान् सत्कार्य में अपनी सेवायें समर्पित करने का यह सुन्दर अवसर है। लेकिन जो इसके लिए तैयार हों, उन्हें पूरी-पूरी प्राथमिक शिक्षा प्राप्त करनी होगी। जीविका की तलाश में निकली हुई गरज़मन्द बहनों का इस काम को एक पेशा समझकर इसमें शामिल होना बेकार होगा। जो इसमें हाथ बँटाना चाहें, उन्हें शुद्ध सेवा के विचार से ही इधर आना चाहिए और इसको अपने जीवन का ध्येय बनाना चाहिए। अगर वे अपनी गरज़ लेकर इसमें पड़ेंगी, तो अपेक्षित काम न कर सकेंगी और बहुत निराश होंगी। यदि हिन्दुस्तान की सुसंस्कृत बहनें गाँवों की जनता के साथ, और सो भी बालकों के ज़रिये, अपनी एकता क़ायम करेंगी, तो वे हिन्दुस्तान के ग्रामीण जीवन में एक शान्त और भव्य क्रान्ति करा सकेंगी। मैं पूछता हूँ : क्या वे इसके लिए तैयार होंगी ?

(हरिजन, ३० अक्तूबर, १९३७) —**मोहनदास करमचन्द गांधी**

अतीत का फल और भविष्य का बीजारोपण

आजकल की शिक्षा-प्रणाली की यह एक विचित्रता ही है कि सब कहीं उसीकी चाह होते हुए भी कोई उसका समर्थन नहीं करता। विद्यार्थी उसीकी तरफ़ दौड़ते हैं, मा-बाप उसीको चाहते हैं, दानी धन उसीके प्रचार के लिए देते हैं, फिर भी अचरज यह है कि ये सब कहते हैं : 'इस शिक्षा में कोई सार नहीं।' तब सवाल उठता है कि आखिर यह चलती कैसे है ? इसे ऐसा कौनसा वरदान मिला है कि सबका आन्तरिक विरोध होते हुए भी यह बराबर बढ़ती ही जा रही है। आमतौर पर माना यह जाता है कि राजा कालस्य कारणम् के अनुसार सरकार की मान्यता ही इसे टिकाये हुए है; लेकिन यह खयाल भी पूरी तरह सही नहीं मालूम होता। आज छोटे-बड़े सभी अधिकारी खुले दिल से इस शिक्षा की व्यर्थता की बातें करते हैं। फिर भी न जाने क्यों, कोई इसे छोड़ने को तैयार नहीं है !

तो इस शिक्षा-पद्धति का जीवनाधार क्या है ? सचमुच यह एक पहेली ही है कि जिस शिक्षा के कारण बेकारी ज़रूर ही पल्ले पड़ती है, उसीके पीछे लोग इतने दीवाने क्यों हैं ?

इसका एक कारण तो यह मालूम होता है कि इस पद्धति के जो छोटे-मोटे लाभ हैं, उन्हें छोड़ने के लिए लोग तैयार नहीं। दूसरे, यह मालूम होता है कि कदाचित् इस शिक्षा-प्रणाली की यान्त्रिकता मनुष्य के स्वभाव की जड़ता को प्रिय लगती है; अथवा इस शिक्षा के द्वारा जो जीविका और प्रतिष्ठा मिलती है, उसकी तह में कोई ऐसा पाप छिपा हुआ है, जिसे छोड़ने का विचार तक मन में नहीं आता ! अथवा, परिवर्तन के लिए सब तरह की अनुकूलता होते हुए भी सिर्फ़ हिम्मत की कमी के कारण परिवर्तन का आरम्भ नहीं होता।

जो लोग सामाजिक अन्यायों से लाभ उठाते हैं उनकी एक विशेषता यह पाई जाती है, कि किसी दूषित प्रथा को सुधारने का उपाय जब उन्हें बताया जाता है, तो वे उस उपाय को अंशतः स्वीकार कर लेते हैं, और यों ज़ाहिरा जनता के आँसू पोंछने का दिखावा करके अन्याय को जैसे का तैसा क़ायम रहने देते हैं। हमारी यह दूषित शिक्षा-प्रणाली अभी तक बदल नहीं रही है, इसकी वजह भी शायद यही है। अगर दोषों का असर एक छोर पर पड़ गया है, और इलाज दूसरे छोर से किया जाता है, तो वह इलाज भी दूषित हो जाता है। इसलिए हर बात में, हर चीज़ के, गुण और दोष दोनों देखने की ज़रूरत रहती है। यदि ग़लती करना और उससे होनेवाली हानि सहकर ही कुछ सीखना है, तब तो सोचने-समझने की कोई ज़रूरत ही नहीं रहती। जड़-जीवन में कई परिवर्तन यों ही हो जाते हैं; लेकिन मनुष्य के जीवन का विकास सोच-समझकर और जान-बूझकर किये गये परिवर्तनों से ही होता है।

आजकल की शिक्षा-प्रणाली के दोषों को पहचानकर उन्हें सुधारने की कोशिश कई जगह हुई है। शिक्षा-सुधार के नाम से, और कहीं-कहीं राष्ट्रीय-शिक्षा के नाम से, कुछ छोटे-मोटे प्रयोग भी किये गये हैं। इन सब प्रयोगों की एक खूबी यह रही है कि साहस के साथ सुधार करते हुए भी किसी ने प्रचलित शिक्षा-प्रणाली से बहुत दूर जाने की हिम्मत नहीं दिखाई। शुरू ही से प्रचलित शिक्षा-प्रणाली के साथ पग-पग पर समझौता करने का इरादा रहता आया है; क्योंकि इस राजमान्य शिक्षा-प्रणाली का सम्बन्ध जीविका से है। फिर भी आश्चर्य इस बात का है कि इस प्रणाली का बड़े-से-बड़ा दोष भी यही बताया जाता है कि इससे जीविका का यह सवाल ही हल नहीं होता!

अन्त में, अब गांधीजी ने इस दिशा में हिम्मत के साथ क़दम बढ़ाया है। जब से वे हिन्दुस्तान आये हैं, तब से इस शिक्षा के प्रति अपना असन्तोष व्यक्त करते रहे हैं। शिक्षा-सुधार के अनेक प्रयोगों को उनके आशीर्वाद और उनकी सहायता मिली है। लेकिन इस तरह के प्रयोगों का सीधा बोझ उन्होंने अबतक अपने ऊपर नहीं लिया था, और यही कारण था कि शिक्षा के विषय में उन्होंने अपनी कोई नीति (क्रीड) देश के सामने साफ़तौर से नहीं रक्खी थी।

आज जब कि हमारे देश की राजनैतिक परिस्थिति ने पलटा खाया है, और कांग्रेस ने देश के शासन की बागडोर को हाथ में लेने का निश्चय किया है, गांधीजी ने भी शिक्षा के प्रश्न को फिर से अपने हाथ में लिया है। अगर देश को सर्वनाश से बचाना है, तो ज़रूरी है कि ग़रीब जनता के सिर पड़े हुए आर्थिक बोझ को कम

किया जाय। जिसे पेटभर खाने को नहीं मिलता, वह सरकार को पैसा कहाँ से दे और क्यों दे ? प्रिन्सिपल परांजपे ने असहयोग आन्दोलन के ज़माने में गांधीजी से कहा था कि अगर शराब-बन्दी करोगे और आबकारी की आमदनी छोड़ बैठोगे, तो शिक्षा के लिए धन कहाँ से पाओगे ? गांधीजी को उनकी यह बात बराबर खटकती रही है। उनका ख़याल है कि आजकल की शिक्षा के इस नशे को पिलाने के लिए हमें आम रिआया को शराब पिलानी पड़ती है; और उनके विचार में, यह स्थिति असह्य है। अगर मज़दूरों को और किसानों को, हरिजनों और कारीगरों को, शराब पिलाकर ही हम अपने मध्यमवर्ग को सुशिक्षित और सुसंस्कृत बना सकते हैं, तो प्रश्न उठता है, कि ऐसी शिक्षा कहाँ तक हमारे काम की है ?

अगर शराब-बन्दी का कार्यक्रम सफल हुआ और आबकारी की आमदनी बन्द हो गई, तो फिर आमदनी का दूसरा रास्ता निकलने तक ज़रूरी होगा कि शिक्षा का काम किफ़ायत से चलाया जाय। यह एक ऐसा उपाय है, जो हर किसी के ध्यान में तुरन्त आ सकता है। लेकिन गांधीजी के सोचने का तरीक़ा कुछ और ही है। वे हरएक सवाल की तह तक पहुँचकर उसपर विचार करते हैं। शराब-बन्दी के सिलसिले में, शिक्षा के आर्थिक पहलू पर विचार करते हुए भी, जब उपाय का प्रश्न सामने आया, तो शराब को और उससे होनेवाली आमदनी को भूलकर ही, बिलकुल स्वतन्त्र रूप से, उन्होंने उसपर विचार किया।

जो देश दूसरे देशों को लूटकर उनका धन अपने यहाँ लाना नहीं चाहता, और अपने देश को दूसरों से लुटवाने का रास्ता भी किसी ग़ैर के हाथ में सौंपना नहीं चाहता, उस देश की शिक्षा-प्रणाली का स्वरूप स्वतन्त्र ही हो सकता है—होना चाहिए। जहाँ करोड़ों की संख्या में बड़ों को और बच्चों को पढ़ाना है, वहाँ ज़रूरी है कि शिक्षा यथासम्भव स्वावलम्बी हो। लोगों पर कर का बोझ लादकर उसकी आमदनी से उनके बच्चों को मुफ्त में पढ़ाने से कहीं बेहतर है कि शिक्षा का बोझ शिक्षा पानेवाले विद्यार्थी और उन विद्यार्थियों के शिक्षक मिलकर उठा लें। जो शिक्षक या अध्यापक अपने गुज़र-बसर के लिए जितनी कम तनख्वाह लेता है, उतनी ही वह देश को आर्थिक सहायता पहुँचाता है। इसी तरह अगर विद्यार्थी भी अपनी पढ़ाई के दिनों में कोई उत्पादक काम कुशलता-पूर्वक करना सीख लें, तो वे भी अपनी शिक्षा के खर्च का बहुत-कुछ बोझ खुद उठा सकेंगे। इस प्रकार गुरू और शिष्य दोनों मिलकर, कम-से-कम शिक्षा के बारे में तो सारे समाज को निर्भय और निश्चिन्त कर सकेंगे।

शिक्षा-शास्त्र की दृष्टि से देखा जाय, तो भी अब वह समय आ गया है, जब शिक्षा-प्रणाली में व्यापक क्रान्ति की आवश्यकता का अनुभव होने लगा है। अबतक शिक्षा की जिस पद्धति का दौरदौरा रहा है, उसमें सारा ज़ोर किताबी पढ़ाई पर डाला जाता है, और उसके ज़रिये दूसरों के अनुभवों, दूसरों की कल्पनाओं और दूसरों के तर्कों को .रटाने की रीति ही प्रचलित है। इसमें मानव-जीवन का और उसकी परिस्थितियों का कोई ध्यान नहीं रक्खा जाता। इने-गिने वैज्ञानिकों ने भले ही कुछ अद्भुत आविष्कार किये हों, लेकिन सर्वसाधारण की शिक्षा का आधार तो किताबें ही रही हैं। जिस अवस्था में बालकों की सब शक्तियों का विकास होता है, और सदाचार की नींव डाली जाती है, उसी अवस्था में परावलम्बी और पराश्रित शिक्षा प्राप्त करने से आज राष्ट्र की कितनी हानि हो रही है, इसका कोई विचार नहीं करता।

निजी प्रयोगों की और मेहनत-मज़दूरी करके जीवन में उद्योग को प्रधान स्थान देने की बात तो समाज ने मान ली, लेकिन शिक्षा का आधार वही पुराना तरीक़ा बना रहा, जिसमें कई-कई विषयों के अध्ययन को दृष्टि के सामने रखकर सिर्फ़ किताबें-ही-किताबें पढ़ाई जाती हैं। शिक्षा में उद्योग को स्थान देने की बात बहुत पहले सर्व-सम्मत हो चुकी है। इस कथन में भी अब कोई नवीनता नहीं रही, कि शिक्षा का आधार निरीक्षण और परीक्षण ही होना चाहिए। लेकिन राष्ट्रीय जीवन की समग्र और महान् प्रवृत्ति का एक हिस्सा बनकर, उसी राष्ट्रीय जीवन के लिए किसी उत्पादक उद्योग या व्यवसाय द्वारा सारी शिक्षा प्राप्त करने का विचार, एक बिलकुल नया विचार है। इस पद्धति में उद्योग या व्यवसाय शिक्षा का एक विषय न रहकर सम्पूर्ण शिक्षा का एक प्रधान माध्यम या वाहन बन जाता है, और उसीके द्वारा शिक्षा का खर्च निकालने की ज़िम्मेदारी आ जाने से उद्योग निरा खेल नहीं रह जाता, बल्कि एक पारमार्थिक और वास्तविक तथ्य बन जाता है। उद्योग का यह रूप ऐसा है कि इसके द्वारा एक नई अहिंसात्मक संस्कृति की नींव डाली जा सकती है; और इस तरह शिक्षा में उद्योग की यह दृष्टि निश्चय ही एक नई दृष्टि सिद्ध होती है।

मैं मानता हूँ, कि यदि पूरी-पूरी श्रद्धा के साथ गांधीजी की इस शिक्षा-पद्धति का प्रयोग किया जाय, और उसे पूरा-पूरा मौक़ा दिया जाय, तो आशा है कि एक या दो पीढ़ियों के अन्दर ही हमारे समाज की सारी सूरत ही बदल जायेगी।

अब हम यह देखें कि गांधीजी की इस योजना में किन-किन तत्त्वों का समावेश हुआ है।

१. जबतक अपने देश की शिक्षा-प्रणाली पर हमारा कोई अंकुश या अधिकार न था, तबतक राष्ट्रीय शिक्षा का अर्थ वह शिक्षा ही हो सकता था, जिसका सरकार से कोई सम्बन्ध न हो। देश के नेता राष्ट्र के हित के लिए जिस शिक्षा-पद्धति को अच्छी समझते थे, वही राष्ट्रीय शिक्षा थी। इस राष्ट्रीय शिक्षा-पद्धति का निश्चय तीन दृष्टियों से किया जा सकता था। (१) राष्ट्र की ऐतिहासिक परम्परा; (२) राष्ट्रीय जीवन के वर्तमान आदर्श; (३) राष्ट्र की वर्तमान आवश्यकतायें।

२. राष्ट्रीय दृष्टि को सामने रखकर इस प्रकार की शिक्षा के प्रयोग हमारे देश में पिछले ५० वर्षों से होते आये हैं। क़रीब-क़रीब सभी प्रान्तों में इस प्रकार के प्रयोग हुए हैं। असहयोग के ज़माने में गुजरात, महाराष्ट्र, बिहार, संयुक्त प्रान्त आदि प्रान्तों में राष्ट्रीय विद्यापीठ भी कायम हुए। ये संस्थायें राष्ट्रीय दृष्टि से और राष्ट्रीय संगठन की शक्ति से चलती थीं, और मानना होगा कि देश ने इनके द्वारा, शिक्षा के क्षेत्र में, बहुत-कुछ अनुभव भी प्राप्त किया। इन संस्थाओं के प्रयत्नों और प्रयोगों के फल-स्वरूप भविष्य के कार्य की दिशा भी कुछ-कुछ स्पष्ट हो गई। इन प्रयोगों के परिणाम-स्वरूप जनता के सामने शिक्षा के क्षेत्र में जो आदर्श न्यूनाधिक स्पष्टता के साथ रक्खे गये हैं, और जिनमें से बहुतों को समाज ने स्वीकार भी किया है, उनमें से कुछ इस प्रकार हैं :

शिक्षा में मातृभाषा की प्रधानता हो। अन्तर्प्रान्तीय विचार-विनिमय और संगठन के लिए अपने देश की एक राष्ट्र-भाषा हो, और वह हिन्दी-हिन्दुस्तानी हो। शिक्षा में अस्पृश्यता को कहीं भी स्थान न दिया जाय। प्राथमिक शिक्षा सब जगह मुफ्त हो। शिक्षा में शहर की अपेक्षा ग्रामीण संस्कृति की प्रधानता हो। देश में अंग्रेज़ी कहीं भी शिक्षा का माध्यम न हो; और जो बिना अंग्रेज़ी के अपनी शिक्षा पूरी करना चाहें, उनपर अंग्रेज़ी कभी न लादी जाय। इतिहास, अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र आदि सांस्कृतिक विषय भारत के इतिहास-सिद्ध सर्वोच्च आदर्श की दृष्टि से सिखाये जायें। शिक्षा का आदर्श केवल धन-प्राप्ति या प्रतिष्ठा-प्राप्ति न हो। समाज-सेवा ही उसका आदर्श रहे, और सादगी, लोक-सेवा सर्व-धर्म-समभाव और उच्च चारित्र्य की उसमें प्रधानता रहे।

३. इसके साथ ही इस क्षेत्र में जो दूसरी बड़ी विचार-क्रान्ति हुई, वह यह थी कि आजकल की शिक्षा में भाषा और साहित्य को जो प्रधानता प्राप्त है, उसे कम करके निरीक्षण-परीक्षण, प्रयोग और कला-कौशल या उद्योग-धन्धों को ही शिक्षा का प्रधान साधन अथवा वाहन बनाया जाय।

इसी विचार को लेकर इस बार गांधीजी शिक्षा के नवीन युग का प्रारम्भ करने के लिए सारे देश को आमन्त्रित कर रहे हैं। उनका यह विचार पिछले ५० वर्षों के राष्ट्रीय प्रयोगों का परिपक्व फल और भविष्य के राष्ट्रव्यापी प्रयत्न का मूल बीज है।

इसके अनुसार अब हमारी राष्ट्रीय शिक्षा का अर्थ होगा : राष्ट्र के हित के लिए, राष्ट्र की इच्छा से होनेवाले राष्ट्रव्यापी प्रयत्न। अबतक के जो प्रयत्न इस दिशा में हुए, वे केवल प्रयोग-रूप थे और इसीलिए ऐसे प्रयोगों पर जिनका विश्वास था, उन्हीं लोगों के हाथ में उनकी बागडोर थी। अब यह कोशिश है, कि यह नया प्रयत्न एक स्वतन्त्र प्रयत्न हो, और इसके प्रयोग में सबको पूरी-पूरी स्वतन्त्रता देते हुए भी, इसका वही रूप अमल में लाया जाय जो राष्ट्रीय महासभा को, यानी देश की जाग्रत जनता को मंजूर हो।

वर्तमान शिक्षा-प्रणाली में हमें जितने भी परिवर्तन करने हैं, सो सब आमूलाग्र करने होंगे। समाज-हितैषी देश-सेवक जिस पद्धति को स्वीकार करेंगे, शिक्षा की वही पद्धति अमल में आयेगी। परन्तु इस समय तो गांधीजी ने केवल प्राथमिक शिक्षा का ही प्रश्न अपने हाथ में लिया है, और उसीपर वे देश के सारे विचारों और शक्तियों को केन्द्रित करना चाहते हैं। जिस ग्रामीण जनता की अबतक केवल उपेक्षा ही हुई है, और जिसके अन्दर भूख की ज्वाला सदा धधकती रही है, गांधीजी चाहते हैं, कि उस जनता को जल्दी-से-जल्दी फ़ायदा पहुँचायें। क्योंकि दमकलों को वहीं दौड़ाने की ज़रूरत रहती है, जहाँ आग लगी हो!

जो लोग यह समझते हैं कि शराब-बन्दी के प्रश्न को हल करने के लिए ही गांधीजी ने शिक्षा की यह योजना तैयार की है, वे भूल जाते हैं कि पिछले २०-२५ वर्षों में राष्ट्रीय शिक्षा के क्षेत्र में जितने प्रयत्न हमारे यहाँ हुए हैं, अथवा आज भी हो रहे हैं, किसी-न-किसी रूप में, गांधीजी ने उन सबकी सहायता की है। फिर भले वह श्रद्धानन्दजी का गुरुकुल हो, कर्वे का महिला विद्यापीठ हो, अथवा कवीन्द्र ठाकुर की विश्वभारती हो। जामिया मिलिया इस्लामिया और बाक़ी के राष्ट्रीय विद्यापीठों का तो प्रश्न ही क्या? उच्च शिक्षा और शिक्षा में अनुसन्धान (रिसर्च) की दिशा में भी गांधीजी ने कुछ कम काम नहीं किया है। फिर भी चूँकि देश की ग़रीब जनता ही विशेषरूप से उनकी चिन्ता का केन्द्र रही है, इसलिए गाँववालों की शिक्षा की ही इस समय उन्हें सबसे ज्यादा फ़िक्र है।

जब कांग्रेस ने सात प्रान्तों में अधिकार ग्रहण किया, और मंत्रियों एवं नेताओं के सामने शराब-बन्दी और व्यापक शिक्षा की विषम समस्या उपस्थित हुई, तब गांधीजी ने उनके सामने और देश के सामने अपनी वह योजना पेश की, जो चालीस वर्षों के उनके अनुभव का निचोड़ कही जा सकती है। जिस श्रद्धा से देश-सेवकों ने और राष्ट्रीय-शिक्षा के प्रयोग-वीरों ने आज तक इस दिशा में प्रयत्न किये हैं, उसी श्रद्धा से गांधीजी ने अपनी यह योजना देश के सामने रक्खी है। जिस सरकारी शिक्षा के दोषों पर आज तक हम प्रहार करते आये, उन्हीं दोषों को अब हम कैसे सह सकते हैं ! उच्च और माध्यमिक शिक्षा, जो अधिकांश में शहरों तक ही सीमित है, अपने सुधार के लिए अभी कुछ समय और ठहर सकती है। उसके लिए हमें पहले लोकमत को केन्द्रित करना पड़ेगा। लेकिन प्राथमिक शिक्षा की निरुपयोगिता तो अब इस हद तक सिद्ध हो चुकी है कि उसमें दो मत हो नहीं सकते। देश के अधिकांश गाँव ऐसे हैं, जहाँ अच्छी या बुरी किसी भी प्रकार की शिक्षा का अस्तित्व नहीं है। जिन गाँवों में प्राथमिक पाठशालायें हैं, वहाँ भी वे अपनी उपयोगिता सिद्ध नहीं कर सकीं; उनसे कोई लाभ नहीं हो सका। इसलिए गांधीजी ने गाँवों की शिक्षा के सवाल को ही प्रधानता दी है, और उसी पर राष्ट्र की सम्मति और राष्ट्र के प्रयत्नों को वे केन्द्रित कर रहे हैं। उनके विचार में शिक्षा की यह योजना उनकी आज तक की समस्त सेवा का सत्त्व है। उनका विश्वास है कि अहिंसा के सिद्धान्त का उत्कृष्ट प्रयोग इस योजना द्वारा ही किया जा सकेगा।

स्थूल रूप में उनकी योजना की रूप-रेखा इस प्रकार है :—

१. किसी-न-किसी राष्ट्रोपयोगी उद्योग को केन्द्र में रखकर ही सारी शिक्षा का प्रबन्ध किया जाय।

२. प्राथमिक शिक्षा को ही राष्ट्र की सर्व-सामान्य और सम्पूर्ण शिक्षा का रूप दिया जाय।

३. विद्यार्थियों के उद्योग से शिक्षकों के वेतन का खर्च निकालने का यत्न किया जाय; अर्थात् उद्योग द्वारा अपनी पढ़ाई की गुरु-दक्षिणा देने का मार्ग राष्ट्र के युवकों और युवतियों को सुझाया जाय।

४. प्राथमिक शिक्षा का माध्यम शुरू से अखीर तक विद्यार्थी की मातृभाषा या प्रान्तीय भाषा ही रहे। इस प्राथमिक शिक्षा में अंग्रेज़ी को कहीं भी स्थान न दिया जाय।

५. प्राथमिक शिक्षा के अन्त में राष्ट्र-भाषा हिन्दी-हिन्दुस्तानी नागरी या उर्दू लिपि के द्वारा अनिवार्य रूप से पढ़ाई जाय।

६. यदि पाठशाला में बननेवाली चीज़ें स्थानीय बाज़ार में न बिक सकें, तो उन्हें उचित क़ीमत देकर ख़रीद लेने की ज़िम्मेदारी सरकार की मानी जाय।

७. सरकार की दूसरी ज़िम्मेदारी यह हो कि जो नवयुवक प्राथमिक शिक्षा पूरी करके निकलें, उन्हें कम-से-कम १५) रु० मासिक का काम वह दे।

गांधीजी की यह योजना इन सात सिद्धान्तों पर निर्भर है। अपनी इस योजना की चर्चा वे देश के शिक्षा-प्रेमी सज्जनों के साथ करना चाहते थे। मध्यप्रान्त और बरार के शिक्षा-मंत्री और शिक्षा-विभाग के अधिकारियों के साथ वे इस विषय पर विचार-विनिमय कर ही रहे थे, कि इतने में मारवाड़ी-शिक्षा-मंडल की रजत-जयन्ती का आयोजन नवभारत विद्यालय, वर्धा द्वारा आरम्भ हुआ और इसी सिलसिले में अखिल भारत-शिक्षा-परिषद् का विचार भी परिपक्व हो गया।

इस परिषद् का रूप जान-बूझ कर छोटा और अवैध रक्खा गया। परिषद् में प्रधानतया वेही लोग बुलाये गये, जिन्हें या तो राष्ट्रीय शिक्षा का अनुभव था, या गांधीजी की नई योजना से ख़ास दिलचस्पी थी। इस तरह परिषद् का उद्देश परिमित होने के कारण, और गांधीजी की अस्वस्थता के कारण, इस परिषद् में सब किसीको बुलाया नहीं जा सका।

शिक्षा के नव-विधान पर सोचनेवाले कांग्रेसी शिक्षा-मन्त्रियों को इस परिषद् में विशेष रूप से आमंत्रित किया गया था। मंत्रियों में सीमाप्रान्त के मंत्री की और मद्रास के प्रधान मंत्री श्री राजगोपालाचार्य की अनुपस्थिति खटकती थी। गांधीजी इस परिषद् के अध्यक्ष थे, और सौ. सौदामिनी मेहता के शब्दों में, परिषद् की सारी कार्वाई एक पारिवारिक जलसे की भाँति अतिशय शान्त और स्निग्ध वातावरण में हुई थी। इसका यह मतलब नहीं, कि परिषद् में मतभेद, सिद्धान्त-भेद और शंकायें पैदा ही न हुईं। परिषद् ने और उसकी विषय-विचारिणी सभा ने दो दिन में जिन प्रश्नों पर विचार किया, वे इस प्रकार थे :

१. इस शिक्षा-प्रणाली का अहिंसा के साथ अविभाज्य सबन्ध है या नहीं?

२. यन्त्र-युग के इस ज़माने में हाथ की कारीगरी को प्रधानता देने में कुछ भूल तो नहीं हो रही है?

३. गांधीजी की यह योजना एकदम नई है, या पहले के आचार्यों ने भी इसपर सोचा है ?

४. इस योजना को हम स्वावलम्बी कहाँ तक कह सकते हैं ?

५. विद्यार्थियों के परिश्रम से सात साल में भी अध्यापकों का खर्च निकल सकेगा या नहीं ?

६. जब देश के करोड़ों बालक एक आदर्श परिस्थिति में माल तैयार करेंगे, तो देश के दूसरे कारीगर इस होड़ में कहाँ तक ठहर सकेंगे ?

७. मदरसों में तैयार होनेवाले माल को सरकार कहाँतक खरीद सकेगी ?

८. बाज़ार भाव से ज्यादा मज़दूरी देने की ताक़त राज्य में कैसे आयेगी ?

९. किसी एक उद्योग को बीच में रखकर शिक्षा के सब विषयों को उसके इर्द-गिर्द बैठाया जा सकेगा या नहीं ?

१०. विद्यार्थियों की मज़दूरी के साथ शिक्षक के वेतन को जोड़ देना कहाँ तक ठीक होगा ?

११. अगर अपना पूरा वेतन निकलवाने के लिए शिक्षक विद्यार्थी से सिर्फ़ मज़दूरी-ही-मज़दूरी कराये, तो उसका प्रतिकार कैसे किया जा सकेगा ?

१२. इस शिक्षा की सफलता के लिए नई पाठ्य-पुस्तकों और नये अध्यापकों की जो ज़रूरत पैदा होगी, वह कैसे पूरी की जायेगी ? क्या इस योजना का प्रयोग कुछ चुने हुए क्षेत्रों में ही किया जाय ?

१३. भूखे छात्रों से कोई काम नहीं लिया जा सकता। उनकी इस भूख का इलाज हम कहाँ तक कर सकेंगे ?

१४. इस योजना में शिक्षिकाओं का उपयोग किस हद तक हो सकेगा ?

१५. प्राथमिक शिक्षा किस उम्र से शुरू होगी ?

१६. इस प्राथमिक शिक्षा की अवधि कितने वर्षों की होगी ?

१७. सात वर्ष से छोटे बालकों की अर्थात् शिशुओं की शिक्षा का क्या प्रबन्ध किया जायेगा ?

१८. प्राथमिक शिक्षा में अंग्रेज़ी का क्या स्थान रहेगा? वह वैकल्पिक होगी, अनिवार्य होगी या वर्ज्य होगी?

१९. प्राथमिक शिक्षा और कॉलेज की उच्च शिक्षा के बीच में इन दोनों को जोड़नेवाला कोई पाठ्य-क्रम होगा या नहीं?

(अ) अगर होगा तो कितने साल का?

(आ) और, कितने विभागों में विभक्त होगा?

२०. प्राथमिक शिक्षा की यह नई योजना केवल गाँवों के लिए होगी या शहरों के लिए भी?

२१. स्त्री-शिक्षा का प्रबन्ध अलग रहेगा, या वह सहशिक्षा का रूप लेगा?

२२. राष्ट्र-भाषा की पढ़ाई कब से और किस तरह होगी?

२३. इस शिक्षा-प्रणाली को व्यावहारिक रूप देने के लिए एक स्थायी समिति नियुक्त की जाय या नहीं?

२४. इसके पाठ्य-क्रम में धार्मिक शिक्षा का कोई स्थान रहे या न रहे?

२५. इस शिक्षा के साथ खेती का सम्बन्ध कहाँतक रहेगा?

२६. अक्षर-ज्ञान का प्रारम्भ कबसे और किस ढंग से होगा?

२७. प्राथमिक, माध्यमिक और उच्च शिक्षा की सम्पूर्ण योजना क्या होगी?

२८. इस नई योजना को हम बेकारी का बीमा या इलाज—'इन्श्युरन्स अगेन्स्ट अन्‌एम्प्लॉयमेण्ट'—माने या नहीं?

इस योजना के साथ ही मध्यप्रान्त और बरार के शिक्षा-मंत्री माननीय श्री रविशंकरजी शुक्ल की 'विद्या-मन्दिर-योजना' भी परिषद् के सामने विचारार्थ रक्खी गई थी।

परिषद् के लगभग सभी सदस्यों की विचार-समिति ने, २२ अक्तूबर की रात को जो प्रस्ताव स्वीकार किया था, वही दूसरे दिन परिषद् के सामने विचारार्थ रक्खा गया और केवल एक सदस्य के आंशिक विरोध के साथ वह सर्व-स्वीकृत हुआ।

इसके बाद गांधीजी ने तुरन्त ही इस प्रस्ताव के अनुसार शिक्षा की नई योजना तैयार करने के लिए एक समिति क़ायम की। इस समिति में अधिकतर वे ही सज्जन चुने गये जो या तो गांधीजी से उनकी योजना को समझ चुके हैं, या आसानी के साथ उनसे समय-समय पर मिल सकते हैं, और सलाह ले सकते हैं।

जिन्हें इस योजना के कई हिस्सों से मतभेद है, और उनकी उपयोगिता पर सन्देह भी है, उनके दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर, उनकी सहायता प्राप्त करने के विचार से प्रोफेसर शाह से निवेदन किया गया कि वे इस समिति की सदस्यता स्वीकार करें।

इस परिषद् की कार्रवाई में सिर्फ़ दो देवियों ने भाग लिया था। उन्होंने प्रस्तुत विषय की चर्चा में काफ़ी योग्यता और दिलचस्पी से हाथ बँटाया और अपनी स्वतन्त्र राय से परिषद् को प्रभावित किया।

इसमें तो कोई सन्देह नहीं, कि गांधीजी की इस योजना का वर्तमान शिक्षा-प्रणाली पर काफ़ी प्रभाव पड़ेगा। यही कारण है कि आज सारे देश में इस योजना की चर्चा हो रही है, और लोग इसका प्रयोग देखने के लिए उत्सुक हैं। यदि यह प्रयोग गांधीजी की श्रद्धा से किया गया, तो मैं मानता हूँ कि इसके कारण हमारे राष्ट्र के जीवन में एक बड़ी ही शान्त और अद्भुत क्रान्ति हो जायेगी, और उसका प्रभाव संसार की दूसरी जातियों पर भी अवश्य ही पड़ेगा।

वर्धा
१७-१२-३७

—दत्तात्रेय बालकृष्ण कालेलकर

गांधीजी के प्रस्ताव

अखिल भारत शिक्षा-परिषद्, वर्धा की बैठकों में गांधीजी के जिन मूल प्रस्तावों पर विचार किया गया, वे इस प्रकार थे :

१. शिक्षा की वर्त्तमान पद्धति किसी भी तरह देश की आवश्यताओं की पूर्ति नहीं करती। उच्च शिक्षा की तमाम शाखाओं में अंग्रेज़ी को माध्यम बना देने के कारण ऊँची शिक्षा पाये हुए मुट्ठी भर लोगों और अपढ़ जन-समुदाय के बीच एक स्थायी दीवार-सी खड़ी हो गई है। इसके कारण ज्ञान के जन-साधारण तक पहुँचने और फैलने में बड़ी रुकावट पड़ गई है। अंग्रेज़ी को इस तरह ज़रूरत से ज्यादा महत्त्व दे देने के कारण पढ़े-लिखे लोगों का बोझ इतना बढ़ गया कि प्रत्यक्ष जीवन के लिए उनकी मानसिक शक्तियाँ पंगु हो गईं और वे अपने ही देश में परदेशी बन गये। उद्योग-धन्धों की शिक्षा के अभाव ने शिक्षितों को उत्पादक काम के लिए बिलकुल अयोग्य बना दिया है, और शारीरिक दृष्टि से भी उनको नुकसान पहुँचाया है। प्राथमिक शिक्षा पर आज जो खर्च हो रहा है, वह बिलकुल व्यर्थ हो जाता है; क्योंकि बालकों को जो कुछ भी सिखाया जाता है, उसे वे थोड़े ही समय में भूल जाते हैं; और, शहरों या गाँवों की दृष्टि से उस पढ़ाई का दो कौड़ी का भी मूल्य नहीं रहता। आजकल की शिक्षा-प्रणाली से जो थोड़ा-बहुत लाभ होता भी है, देश के प्रधान करदाताओं को वह भी नहीं मिलता; क्योंकि उनके बच्चों को सबसे कम शिक्षा मिलती है।

२. प्राथमिक शिक्षा के पाठ्य-क्रम को बढ़ाकर कम-से-कम सात साल का कर देना चाहिए, और उसमें अंग्रेज़ी को छोड़कर मैट्रिक तक की योग्यता का, और उद्योग-धन्धों की ठीक-ठीक शिक्षा का समावेश होना चाहिए।

३. जहाँतक हो सके, बालकों और बालिकाओं के चौमुखी विकास की दृष्टि से, सारी शिक्षा किसी-न-किसी लाभप्रद उद्योग द्वारा दी जानी चाहिए। दूसरे शब्दों में, उद्योग की शिक्षा से एक पन्थ दो काज होने चाहिएँ। एक, विद्यार्थी अपनी मेहनत के परिणाम-स्वरूप अपनी पढ़ाई का खर्च दे सके; दूसरे, पाठशाला में सीखे हुए उद्योग द्वारा उसके छिपे हुए पुरुषत्व अथवा स्त्रीत्व का सर्वांगीण विकास हो सके।

इसमें यह नहीं सोचा गया है कि ज़मीन, मकान और साधन-सामग्री का खर्च भी विद्यार्थी के श्रम की कमाई से निकाला जाय।

रुई, ऊन और रेशम की सभी क्रियायें, जैसे बीनना, साफ़ करना, कपास ओटना, पींजना, कातना, रँगना, माँड़ लगाना, ताना तैयार करना, दुसूती करना, नमूने बनाना, बुनना, बेल-बूटे और कसीदे का काम करना, सीना पिरोना, काग़ज़ बनाना, काटना, जिल्द बाँधना, फ़र्नीचर बनाना, खिलौने बनाना, और गुड़ वग़ैरा बनाना, निश्चय ही ऐसे काम हैं, जो आसानी से सीखे और बहुत थोड़ी पूँजी से चलाये जा सकते हैं।

इस प्रकार की प्राथमिक शिक्षा से लड़के और लड़कियाँ इस लायक होनी चाहिएँ कि वे अपनी रोज़ी कमा सकें, और सरकार को चाहिए कि वह या तो इन्हें इनके लायक काम दे, या सरकारी तौर पर ठहरी हुई क़ीमत की दर से इनकी बनाई हुई चीज़ों को ख़रीद ले।

४. उच्च शिक्षा का भार खानगी प्रयत्नों पर छोड़ देना चाहिए। इस शिक्षा में तरह-तरह के उद्योगों की, कला-कौशलों की, साहित्य और ललितकला आदि की राष्ट्रोपयोगी शिक्षा का प्रबन्ध किया जा सकता है।

सरकारी विश्वविद्यालय केवल परीक्षा लेनेवाली संस्थायें रहें, और परीक्षाओं की फीस में से अपना खर्च निकालकर स्वावलम्बी बनें।

ये विश्वविद्यालय शिक्षा के समस्त क्षेत्र की निगरानी रक्खेंगे, और शिक्षा के विविध क्षेत्रों के लिए पाठ्य-क्रम तैयार और मंजूर करेंगे। उस-उस प्रान्त या प्रदेश के विश्वविद्यालय की पूर्व स्वीकृति के बिना कोई भी खानगी पाठशाला न चलाई जायेगी। विश्वविद्यालय खोलने के परवाने (चार्टर) सुयोग्य और प्रामाणिक सज्जनों के किसी भी मण्डल या संस्था को उदारता-पूर्वक दिये जाने चाहिएँ। शर्त्त हमेशा यह होनी चाहिए कि इन विश्वविद्यालयों पर सरकार को कुछ भी खर्च न करना पड़े, सिवा इसके कि वह एक केन्द्रीय शिक्षा-विभाग का खर्च चलाये।

मेरी इस योजना के कारण राज्य उन विद्यालयों के संचालन की ज़िम्मेदारी से बरी नहीं हो जाता, जिनकी ज़रूरत उसे अपनी आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए होगी।

अखिल भारत शिक्षा-परिषद्, वर्धा
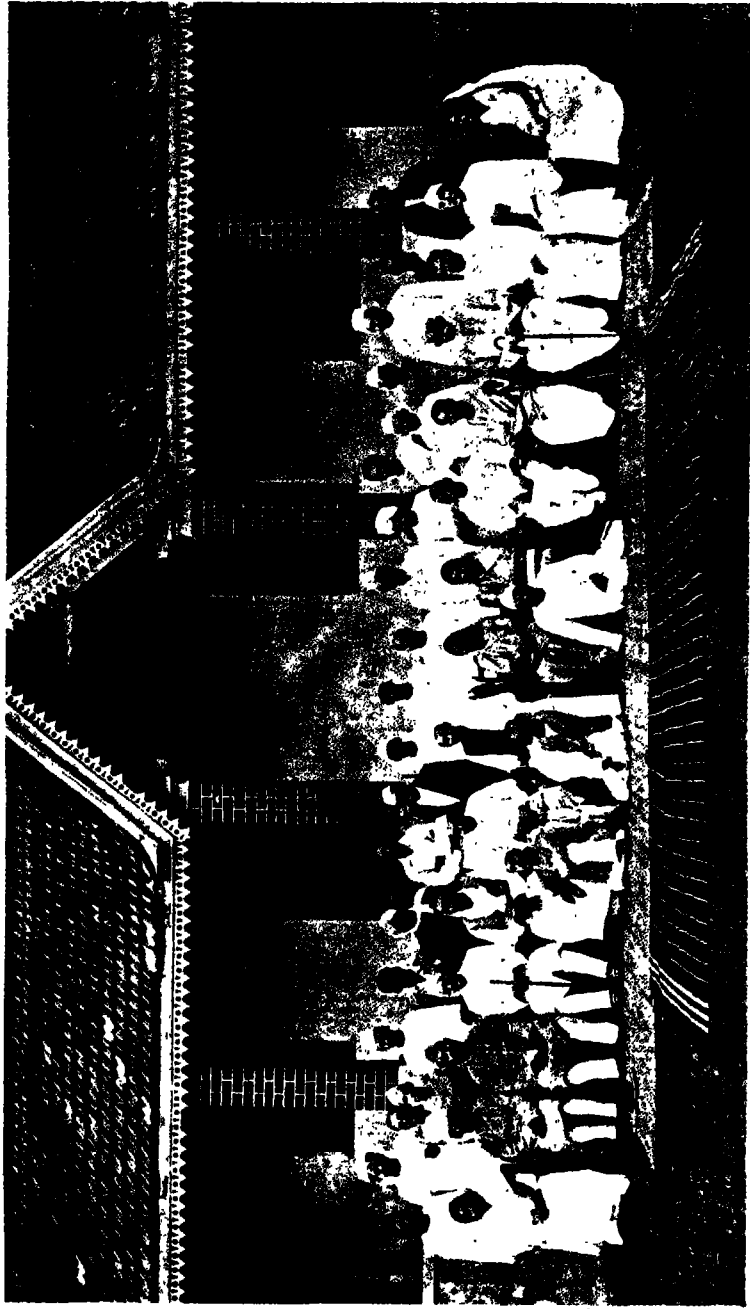
पहली बैठक

वक्ता

१. श्री जमनालालजी बजाज
२. महात्मा गांधी
३. डॉक्टर ज़ाकिर हुसैन
४. मौलवी अब्दुलहक़ साहब
५. सौ. सौदामिनी मेहता
६. अध्यापक खुशाल तलकशी शाह
७. आचार्य हीरालाल खन्ना
८. आचार्य तिजारे
९. आचार्य राष्ट्रीय विद्यालय, खामगाँव
१०. डॉ. आत्माराम कृष्ण भागवत
११. माननीय डॉ. सैयद महमूद
१२. श्री बलवन्तराय ठाकोर

अखिल भारत शिक्षा-परिषद्, वर्धा

कार्य-विवरण : २२-२३ अक्तूबर, १९३७

पहली बैठक

तारीख:—२२-१०-३७ समयः—सुबह ८-३० से ११-३०

मारवाड़ी-शिक्षा-मंडल, वर्धा की रजत-जयंती के लिए ख़ासतौर पर तैयार किये गये विशाल और सुशोभित मण्डप में अखिल भारत शिक्षा-परिषद् की पहली बैठक बड़े ही उत्साह और उल्लास के साथ, शान्त और सुनिश्चित वातावरण में शुरू हुई। इस परिषद् के लिए देश के विभिन्न स्थानों से कोई ९० सज्जन निमंत्रण पाकर उपस्थित हुए थे, जिनकी नामावली अन्त में परिशिष्ट (अ) के साथ दी गई है।

शुरू में मारवाड़ी-शिक्षा-मंडल की ओर से और परिषद् की स्वागत-समिति की ओर से आये हुए सज्जनों का स्वागत करते हुए, मंडल के सभापति **सेठ श्री० जमनालालजी बजाज** ने नीचे लिखा भाषण किया:—

पूज्य महात्माजी, भाइयो और बहनो !

*मारवाड़ी-शिक्षा-मंडल की और इस शिक्षा-परिषद् की स्वागत-*समिति की ओर से मैं आप सबका हार्दिक स्वागत करता हूँ, और हमारा निमंत्रण पाकर आपने यहाँ आने का जो कष्ट स्वीकार किया है, उसके लिए आपको हार्दिक धन्यवाद देता हूँ। *कुछ समय पहले मारवाड़ी-शिक्षा-मंडल,* वर्धा ने अपनी

रजत—जयन्ती मनाने का निश्चय किया था। उसके कुछ ही दिनों बाद बापूजी ने 'हरिजन' में अपनी शिक्षा—सम्बन्धी योजना की चर्चा शुरू की। इसके सिलसिले में नवभारत विद्यालय के आचार्य श्री. आर्यनायकम्‌जी और मण्डल के प्रबन्ध-मंत्री श्री. श्रीमन्नारायणजी के साथ भी बापूजी की कुछ चर्चा हुई। इसपर से इन दोनों सज्जनों को यह प्रेरणा हुई कि क्यों न मण्डल की रजत-जयन्ती के अवसर पर ही देश के कुछ चुने हुए शिक्षा-शास्त्रियों की एक परिषद् बुला ली जाय और उसके सामने यह सारा प्रश्न विचारार्थ रख दिया जाय? उन्होंने अपने ये विचार बापू के सामने रक्खे और बापू ने उनका स्वागत किया। इसी प्रेरणा और उत्साह का यह फल है कि आज हम सब यहाँ इस रूप में इकट्ठा हुए हैं। इस समय हमारे देश के सात प्रान्तों में कांग्रेस का मंत्री-मण्डल काम कर रहा है, और उसके सामने देश के लाखों-करोड़ों की शिक्षा का और शिक्षितों की बेकारी का सवाल मुँह बाये खडा है। इस विकट समस्या को हल करने के लिए यह ज़रूरी था कि कोई देशव्यापी योजना हमारे सामने हो, जिसपर हम विश्वास के साथ अमल कर सकें। मैं समझता हूँ कि बापूजी की योजना ऐसी ही एक योजना ठहरेगी, जिस पर इन दो दिनों में हमें और आपको गंभीर विचार करना है।

मुझे विशेष हर्ष इस बात का है कि ऐसी महत्वपूर्ण परिषद् के आयोजन का सम्मान हमारे मारवाड़ी-शिक्षा-मंडल को मिला, जो उसके लिए सदैव एक गौरव की चीज़ रहेगी। मैं जानता हूँ कि इस गौरव के साथ उसपर ज़िम्मेवारी भी काफ़ी आ पड़ती है। मंडल की तरफ़ से मैं आपको यह कह सकता हूँ कि मण्डल अपने भरसक इस ज़िम्मेवारी को निबाहने और चमकाने की चेष्टा करेगा।

यह तो आप सबको विदित ही है कि महात्माजी इस परिषद् के सभापति हैं। आपसे यह भी छिपा न होगा कि इधर एक अर्से से उनका स्वास्थ्य सन्तोषजनक नहीं रह रहा है! इस परिषद् का यह जो छोटा रूप है, उसका एक कारण उनका गिरा हुआ स्वास्थ्य भी है। वैसे तो परिषद् में सम्मिलित होने के लिए बहुतेरे सज्जनों के बड़े आग्रह-भरे पत्र हमारे पास आये; परन्तु अपनी मर्यादाओं के कारण हम उनकी इच्छा पूरी न कर सके। पहली बात तो यह थी कि बापू इस परिषद् को अधिक से अधिक 'बिज़नेस् लाइक्' (कार्यक्षम) बनाना चाहते थे। दूसरे, हमने यह भी देखा कि वर्धा-जैसे छोटे स्थान में इस परिषद्

के बड़े रूप का समुचित प्रबन्ध शायद हम न कर सकते। अतः इच्छा न रहते भी, बहुतों को इस आशा से निराश करना पड़ा कि आगे जब बड़ी परिषद् होगी, उन सबकी सेवाओं का उपयोग हो सकेगा।

अन्त में, मैं आपसे यही निवेदन करूँगा कि परिषद् का काम आप सब इस तरह चलाने की कृपा करें कि बापू को कम से कम श्रम हो। आप देख ही रहे हैं कि वे बहुत थके हुए हैं। परिषद् के लिए पिछले ४-५ दिन से वे प्रयत्न-पूर्वक आराम कर रहे थे; फिर भी भरोसा नहीं होता कि वे परिषद् के श्रम को कैसे सह सकेंगे। आप इसका ध्यान रखने की कृपा करें!

अब मैं पूज्य महात्माजी से प्रार्थना करता हूँ कि वे अपनी योजना आपके सामने रक्खें!

---

(१)

परिषद् की कारवाई को शुरू करते हुए उसके सभापति महात्मा गांधीजी ने अपनी योजना की व्याख्या में क़रीब ८९ मिनट तक नीचे लिखा भाषण किया—

भाइयो और बहनो!

मैं आप सबका आभार मानता हूँ कि आपने यहाँ आने की तकलीफ़ उठाई। आप देखते हैं कि मैं इस सभा का सदर बना दिया गया हूँ, लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि इस जलसे की तमाम कारवाई को मैं अकेला ही चलाऊँ। इस सभा का आयोजन करने में मेरा बहुत ही कम हाथ रहा है। इसके प्रबन्ध में भाई श्रीमन्नारायणजी ने बहुत मेहनत की है। उनका नाम आप लोग सुन चुके हैं। वह इस मारवाडी-शिक्षा-मंडल के प्रबंध-मंत्री हैं। खेद है कि वह बीमार हैं, और इस वक्त यहाँ मौजूद नहीं हैं। पहले उन्हींने मुझसे यह कहा कि मारवाडी-शिक्षा-मंडल की ज्युबिली (रजत-जयन्ती) के मौक़े पर, मेरे शिक्षा-सम्बन्धी नये विचारों की चर्चा के लिए, चन्द भाइयों को बुला लिया जाय, तो कैसा हो? मुझको उनकी यह बात अच्छी लगी। मेरा तो काम ही यह है कि जो कुछ मेरे दिल में बस जाय, उसे आप सबके सामने रख दूँ। आप इस

बात की ज़रा भी परवाह न करें कि इस जलसे का सदर मैं हूँ। सदर न होकर, मामूली दर्शक ही होता, तब भी मैं वही चीज़ आपको सुनाता, जो अब सुनाऊँगा।

मैं कोशिश करूँगा कि कम से कम वक्त में अपने खयालात आपके सामने रख दूँ। बाद में, इस सिलसिले में जो कुछ आप मुझसे पूछना चाहें, पूछ लीजिये। मैं चाहूँगा कि जिनको मेरी बातों से मुखालिफ़त (विरोध) हो, वे अपनी राय यहाँ ज़रूर ज़ाहिर करें। उसके बाद मैं भी अपनी राय उन्हें बता दूँगा। गरज़ कि जो कुछ मुझसे छूट जाय, उसे आप सब मिलकर पूरा कर दीजिये।

आज आप लोगों के सामने मैं जो बात रक्खा चाहता हूँ, उसे रखने का ढंग, कम से कम मेरे लिए, नया है; मगर इस बारे में मेरा अनुभव तो बरसों पुराना है। मेरी इच्छा थी कि मैं इस विषय को ज़रा साफ़ कर दूँ। **'हरिजन'** में मैंने अपनी जो दरख्वास्त रक्खी है, वह तो आप सबने पढ़ी ही होगी। उसका हिन्दी अनुवाद **'हरिजन-सेवक'** से लेकर यहाँ तक़सीम भी किया गया है, जो आपने देखा ही होगा? परिषद् का सारा काम हिन्दुस्तानी ही में करना तय पाया है, और यही ठीक भी है। इससे कुछ भाइयों को थोड़ी असुविधा ज़रूर होगी; मगर उम्मीद है, कि वे अपने आस-पासवालों से सारी कार्रवाई को समझ लेंगे।

मुझे आपके सामने दो बातें रखनी हैं: एक प्राथमिक शिक्षा के बारे में, और दूसरी उच्च शिक्षा के यानी हाईस्कूल और कॉलेज की शिक्षा के बारे में। मैं इस खयाल का हूँ कि प्राथमिक और माध्यमिक दोनों शिक्षाओं को मिला दिया जाय। वजह यह है कि मुझे इस चीज़ का बहुत पुराना तज़रबा है, जिसे उम्मीद है कि आगे चलकर आप भी क़बूल करेंगे। सन् १९१५ से अबतक हिन्दुस्तान के गाँवों में जितना मैं घूमा हूँ और जिस हद तक उनके अन्दर मैं पैठा हूँ, उतना शायद ही कोई घूमा और पैठा हो। दक्षिण आफ्रिका में भी मैंने इसका खूब अनुभव किया है, क्योंकि वहाँ भी मेरा ज़्यादातर सम्बन्ध गिरमिटों से रहता था और मैं उन्हींमें काम करता था। इस तरह क़रीबन २२–२३ बरस की उम्र से इन लोगों के बीच रह कर जो अनुभव मैंने पाया है, उससे मैं उनकी हालत को बखूबी जानने लगा हूँ और थोड़ा–बहुत यह भी जानता हूँ कि उनके साथ हमारा ब्यौहार कैसा होना चाहिए। प्राथमिक शिक्षा की जो शक्ल आज है, उसे मैंने गाँवों में देखा है, और इधर तो मैं

एक गाँव ही में रहने लगा हूँ। और, जब मैं सेगाँव के इन लड़कों की पढ़ाई को देखता हूँ, तो फौरन समझ लेता हूँ कि वह क्या चीज़ है। क्योंकि उसका न कोई ढंग है. न ध्येय है। इसलिए मैं तो समझता हूँ कि अगर हम देहात को कुछ देना चाहते हैं, तो ज़रूरी है कि सेकण्डरी तालीम को प्राइमरी के साथ मिला दिया जाय। इसीलिए अब हमने जो कुछ बनाया है, या बनाने जा रहे हैं, वह शहरों के लिए नहीं, बल्कि पूरे का पूरा गाँवों के लिए है। कॉलेजों के बारे में, मैं मानता हूँ, कि मेरा तजरबा बहुत कम है; नहीं-सा है। लेकिन कॉलेज के विद्यार्थियों से जितना ताल्लुक मेरा आता है, उतना शायद बहुत थोड़ों का आता होगा। सच है कि मैं कभी उनका प्रोफेसर नहीं रहा, लेकिन उनके दिल से अपना दिल मैंने ज़रूर मिलाया है। जहाँ मैं उनकी ख्वाहिशों और आकांक्षाओं को जानता हूँ, तहाँ उनकी कमज़ोरियों और बुराइयों से भी वाकिफ़ हूँ। फिर थोड़ी-बहुत 'कॉमनसेन्स' भी तो मुझमें है। मगर यह सब कुछ होते हुए भी मैं मानता हूँ कि मेरा कॉलेज का अनुभव नहीं के बराबर है। इसलिए आज तो हमें प्राथमिक शिक्षा पर ही पूरे तौर से विचार करना है।

मेरा खयाल है कि आजकल देहाती मदरसों में लड़कों को जो कुछ पढ़ाया जाता है, उससे देहातवालों को नुकसान ही होता है। लड़के कुछ समय के लिए मदरसे जाते हैं, मगर वहाँ जाकर भी उन्हें असंतोष रहता है। उनमें से अधिकतर या तो शहरी बन जाते हैं, या गाँव के प्रति अपना कर्तव्य भूल जाते हैं, और कुछ तो बदमाशी वग़ैरा भी सीख लेते हैं। इसलिए अपने अबतक के अनुभव से मैं कह सकता हूँ कि हमारी मौजूदा प्राइमरी तालीम से गाँववालों को कोई फ़ायदा नहीं पहुँचता!

तो सवाल होता है कि इस प्राथमिक शिक्षा का स्वरूप क्या हो? मेरा जवाब यह है कि किसी उद्योग या दस्तकारी को बीच में रखकर, उसके ज़रिये ही यह सारी शिक्षा दी जानी चाहिए। आप जानते हैं, मेरे चार लड़के हैं। इनमें एक तो बाग़ी हो गया है; बाक़ी तीन मेरे साथ हैं। चन्द धन्धों के मार्फ़त मैंने इनको जो तालीम दी है, उससे इन्हें फायदा ही पहुँचा है। अपनी वकालत के दिनों में भी मैं घर पर कुछ न कुछ उद्योग किया करता था और बच्चों को भी बढ़ईगिरी वग़ैरा की तालीम देता था। जूते

बनाने का काम मैंने श्री. कैलनबैक से सीखा, जो खुद इसे 'ट्रैपिस्ट मोनेस्टरी' में सीखकर आये थे; क्योंकि वे लोग हिन्दुस्तानियों को सिखाते नहीं थे। इस तरह जिन्होंने मुझसे तालीम ली, मैं नहीं समझता कि उनकी दिमागी हालत कमज़ोर रही, या कोई नुकसान उन्हें पहुँचा। टॉल्स्टॉय फार्म में भी शिक्षा का यही तरीक़ा रहा। वहाँ तो तरह-तरह के लड़के थे: अच्छे, बुरे और बदमाश, सभी। इनमें हिन्दू भी थे, मुसलमान भी थे, और पारसी भी थे। ये सब एक साथ मिल-जुलकर रहते थे; और अपने-अपने धर्मों का पालन भी करते थे। वजह इसकी यह थी कि मैंने इनको सिर्फ़ किताबी तालीम नहीं दी, बल्कि साथ-साथ कुछ धन्धे भी सिखाये। इनमें कुछ ने चमड़े का काम सीखा, कुछ ने बढ़ईगिरी सीखी और चन्द ऐसे भी निकले, जो आज इन धंधों के ज़रिये काफ़ी कमा रहे हैं। इन सबको मैंने वही सिखाया, जो मैं खुद थोड़ा-बहुत जानता था।

लेकिन आज मैं जो चीज़ आपके सामने रखने जा रहा हूँ, वह पढ़ाई के साथ-साथ एकाध धन्धा सिखा देने की चीज़ नहीं है। मैं तो अब यह कहना चाहता हूँ कि लड़कों को जो कुछ भी सिखाया जाय, सब किसी न किसी उद्योग या दस्तकारी के ज़रिये ही सिखाया जाय। आप कह सकते हैं कि मध्ययुग में हमारे यहाँ लड़कों को सिर्फ़ धन्धे ही सिखाये जाते थे। मैं मानता हूँ। लेकिन उन दिनों धन्धों के ज़रिये सारी तालीम देने की बात लोगों के सामने न थी। धन्धा सिर्फ़ धन्धे के ख़याल से सिखाया जाता था। हम तो धन्धे या दस्तकारी की मदद से दिमाग़ को भी आला बनाया चाहते हैं। आज हालत यह है कि लुहार का लड़का लुहारी नहीं जानता, और सुतार का सुतारी छोड़ बैठा है। इन्होंने किताबी तालीम तो पाई, मगर अपने पेशे को भूल गये: उससे मुँह फेर लिया। अब गाँव छोडकर शहर में बसते हैं, और मुहर्रिरी करते हैं। अगर वे पढ़-लिखकर भी अपने पुश्तैनी धन्धों को न छोडते और उनमें तरक्की करके दिखाते तो आज हिन्दुस्तान की जैसी बुरी हालत हो गई है, न हो पाती। आज देहात में कहीं भी चले जाइये, अच्छे बढ़ई, लुहार या कारीगर के दरसन नहीं होते। मेरे जो साथी गाँवों में बैठकर काम कर रहे हैं, उनका भी यह तज़रबा है कि वहाँ जो बढ़ई वग़ैरा हैं, वे अपने धन्धे के लिहाज़ से नाकामयाब-से हैं। दूर क्यों जाइये। इस चर्खे ही को ले लीजिये, जो सारे हिन्दुस्तान में फैला हुआ था। मगर अंग्रेज़ इसे इंग्लैण्ड ले गये, और वहाँ इसमें इतनी तरक्की कर दी कि बड़ी-बड़ी मिलें खड़ी हो गईं। मेरा आशय

यह नहीं है, कि उन्होंने जो कुछ किया, बहुत अच्छा किया। मगर इसमें तो कोई शक नहीं कि जब उन लोगों ने इतनी तरक्की कर ली, तो हम, जो कुछ हमारा था, उसे भी खो बैठे।

इसलिए मेरी दरख्वास्त यह है कि हम सिर्फ़ उद्योग या दस्तकारी ही न सिखायें, बल्कि इन्हींके ज़रिये बच्चों को सारी तालीम दें। मसलन् तकली ही को ले लीजिये। इस तकली का सबक़ हमारे विद्यार्थी का पहला सबक़ होगा, जिसके ज़रिये वह कपास का, लंकाशायर का और अंग्रेज़ी सल्तनत का बहुत-कुछ इतिहास सीख सकेगा। मैं खुद भी यही कर रहा हूँ। मेरा पोता (लड़के का लड़का) छः साल का है। वह लिखता तो बहुत मामूली है, और लिखना मैं अभी उसके लिए ज़रूरी समझता भी नहीं। पर वह ज्यादातर मेरे साथ हवाखोरी के लिए जाता-आता है; और घर पर तकली चलाना भी सीखता है। इस तकली में आज उसे जो दिलचस्पी है, और इसके ज़रिये वह जो इल्म हासिल कर रहा है, वैसा हमारे पुरखा (बुजुर्ग) शायद नहीं करते थे। यह तकली कैसे चलती है, इसका क्या उपयोग है और इसके अन्दर क्या-क्या ताक़त पड़ी हुई है, सो सब खेल ही खेल में बालक जान लेता है। इसीके ज़रिये थोड़ा गणित का ज्ञान भी उसे मिल जाता है। क्योंकि तकली पर जो सूत वह कातता है, अगर उस सूत के तार उससे गिनवाये जायँ, और पूछा जाय कि कितने तार कते, तो धीमे-धीमे इसके अन्दर से उसे गणित का भी काफ़ी ज्ञान कराया जा सकता है। और खूबी यह है कि उसके दिमाग पर इस सबका ज़रा भी बोझ नहीं पड़ता। सीखनेवाले को तो पता भी नहीं चलता कि वह कुछ सीख रहा है। वह अपने खेलता-कूदता और गाता रहता है, तकली चलाता रहता है, और इसीमें बहुत-कुछ सीख लेता है।

अब आप देखिये कि मैं क्यों इस चीज़ पर इतना ज़ोर देता हूँ। सिर्फ़ तकली की बात मैं इसलिए कह रहा हूँ कि मैंने उसकी ताक़त और उसके 'रोमांस' का अनुभव किया है। और आज तो इस तकली के ज़रिये ही हम अपने करोड़ों बालकों को शिक्षा दे सकते हैं। इसलिए मेरा फ़र्ज़ हो जाता है कि मैं इस काम के लिए आप लोगों के अन्दर दिलचस्पी पैदा कर दूँ। इसीलिए आप देखते हैं कि मैंने इस परिषद् में राष्ट्रीय विद्यालयों और विद्यापीठों के शिक्षकों को और शिक्षा-मंत्रियों को बुला लिया है। अगर उन्होंने और आप सबने इस चीज़ को अपना लिया तो यह काम जल्द ही हो सकता है। मगर इसके पहले ज़रूरी है कि हम लोग आपस में इसपर दिल खोलकर बहस कर लें। जहाँ

तक मेरा तजरबा कहता है, मैं तो प्राथमिक शिक्षा के लिए तकली ही को बीच में रखना चाहता हूँ। लेकिन अगर आप लोगों के ख़याल में और कोई धन्धा आता हो, तो आप निःसंकोच उसे सुझाइये; ताकि हम उस पर भी विचार कर लें। तकली मुझे सबसे ज्यादा इसलिए जँचती है कि इसे छोड़कर और धन्धों के लिए हमारे पास कोई सामान मौजूद नहीं है। तकली को न ज्यादा खर्च की गरज़ है, न सरंजाम की। मैं जानता हूँ कि इसे लेकर आप क़ामयाबी तक पहुँच सकेंगे। और, इसमें तो मैं भी आपकी मदद कर सकता हूँ। लेकिन इसे छोड़कर दूसरा कोई धन्धा ऐसा नहीं है, मुल्क की मौजूदा गिरी हुई हालत में, जिसे हम यहाँ से वहाँ तक जारी कर सकें। यह अच्छा ही हुआ कि सन् १९२० से अबतक कांग्रेस ने इतने ज़ोरों का काम किया कि आज आधे से ज्यादा हिन्दुस्तान में उसकी मिनिस्टरी है। और मैं देख रहा हूँ कि मिनिस्टर लोग काफ़ी काम कर रहे हैं। इसके लिए मैं उन्हें मुबारकबाद देना चाहता हूँ। याद रखिये कि यह जो मिनिस्टरी कांग्रेस के हाथ में आज आई है, उसकी वजह यह है कि पिछले सालों हमने काफ़ी रचनात्मक काम कर लिया। आगे भी इस मिनिस्टरी को उसी हद तक कामयाबी मिलनेवाली है, जिस हद तक यह रचनात्मक काम में सफल होगी।

तो अब मिनिस्टर लोगों के सामने मैंने अपनी योजना रख दी है। वे चाहें, इसे पूरा करें; चाहें ठुकरा दें। मगर मेरी सलाह है कि वे प्राइमरी तालीम के लिए तकली को ही बीच में रक्खें और उसीसे लड़कों की पढ़ाई शुरू करें। पहले साल लड़कों को सब कुछ तकली ही के बारे में बताया जाय; फिर दूसरे साल तकली के साथ-साथ और बातें भी शामिल की जायँ। तकली के ज़रिये कमाई भी काफ़ी हो सकेगी और इसके फैलाव में कोई रुकावट भी न आयेगी; क्योंकि इसके सूत से जो कपड़ा तैयार होगा उसके पहननेवालों की संख्या हमारे यहाँ इतनी है कि अपने ही बच्चों द्वारा बनाये गये कपड़े को छोड़कर दूसरा कपड़ा ख़रीदने की हमें ज़रूरत न पड़ेगी और वैसा कपडा खरीदना हम पसन्द भी करेंगे।

मैंने सोचा है कि यह पाठ्य-क्रम कुल सात साल का रक्खा जाय। इससे जहाँ तक तकली का सम्बन्ध है, विद्यार्थी बुनाई तक के व्यावहारिक ज्ञान में (जिसमें रँगाई और डिज़ाइनिंग आदि भी शामिल होंगे) निपुण हो जायेंगे। कपड़ा जितना हम बना पायेंगे, उसके लिए ग्राहक तो तैयार हैं ही।

मैं इस बात के लिए बहुत ही उत्सुक हूँ कि दस्तकारी के ज़रिये विद्यार्थी जो कुछ पैदा करें, उसकी क़ीमत से शिक्षक का ख़र्च निकल आये; क्योंकि मुझे यक़ीन है कि देश के करोड़ों बच्चों को तालीम देने के लिए सिवा इसके दूसरा कोई रास्ता नहीं है। और न यही मुमकिन है कि हम उस वक्त तक ठहरे रहें, जब कि सरकार अपने ख़ज़ाने से हमें आवश्यक रुपया दे, या वाइसराय फ़ौजी ख़र्च कम कर दें, या इसी तरह का कोई और कारगर ज़रिया निकल आये। आप लोग यह भी समझ लीजिये कि प्राथमिक शिक्षा की इस योजना में सफ़ाई, आरोग्य और आहारशास्त्र के प्रारंभिक सिद्धान्तों का समावेश भी हो जाता है। इसमें बच्चों की वह शिक्षा भी शामिल समझिये, जिससे वे अपना काम खुद करना सीखेंगे, और घर पर अपने मा-बाप के काम में भी मदद पहुँचायेंगे। आज-कल हमारे बच्चों को न सफ़ाई का ख़याल होता है, न साफ़-सुथरेपन का; वे न अपने पैरों खड़ा होना जानते हैं, और न उनकी तन्दुरुस्ती ही ठीक रहती है। मैं चाहूँगा कि उनके लिए संगीत के साथ लाज़िमी तौर पर ऐसी क़वायद और कसरत वग़ैरा का इन्तज़ाम हो जाय, जिससे उनकी तन्दुरुस्ती सुधरे और जीवन तालबद्ध बने।

मुझ पर यह इलज़ाम लगाया जा रहा है कि मैं साहित्यिक या अदबी शिक्षा के ख़िलाफ़ हूँ। मगर बात ऐसी नहीं है। मैं तो सिर्फ़ वह तरीक़ा बता रहा हूँ, जिससे ऐसी शिक्षा दी जानी चाहिए। मेरे 'स्वावलम्बन' के पहलू पर भी हमला किया गया है। कहा यह गया है कि जहाँ प्राथमिक शिक्षा पर हमें लाखों रुपया ख़र्च करना चाहिए, तहाँ उलटे हम बच्चों ही से उसे वसूल करने जा रहे हैं। साथ ही यह अँदेशा भी बतलाया जाता है कि इसमें मुल्क की बहुत-कुछ ताक़त हक-नाहक ख़र्च होगी। लेकिन अनुभव इस अँदेशे को ग़लत साबित कर चुका है। और जहाँ तक बच्चों पर बोझ डालने या उनका शोषण करने का सवाल है, मैं जानना चाहता हूँ कि क्या यह बोझ उन्हें उनके सर्वनाश से बचाने के लिए नहीं है? तकली बच्चों के खेलने का एक काफ़ी अच्छा खिलौना है। महज़ इसलिए कि वह एक उत्पादक चीज़ है, यह नहीं कहा जा सकता कि वह खिलौना नहीं है, या खिलौने से किसी क़दर कम है। आज भी देहात में बच्चे किसी हद तक अपने मा-बाप की मदद करते ही हैं। खेती-किसानी की बातों में तो हमारे सेगाँव के बच्चे मुझसे कहीं ज़्यादा जानते हैं, क्योंकि उन्हें अपने मा-बाप के साथ खेतों पर काम करना पड़ता है। लेकिन जहाँ बच्चों को इस बात का बढ़ावा दिया जायगा कि वे कातें और खेती के काम में अपने मा-बाप की मदद करें, तहाँ उन्हें यह महसूस करने का मौक़ा भी दिया जायगा कि उनका सम्बन्ध सिर्फ़ उनके मा-बाप से ही नहीं, बल्कि अपने गाँव और देश से भी है,

और उन्हें इनकी भी कुछ सेवा करनी है। इसलिए मेरे ख़याल में तो तालीम का यही एक तरीक़ा आता है। मंत्रियों से मैं यह कहूँगा कि ख़ैराती तालीम देकर वे मुल्क के बच्चों को असहाय या अपाहिज ही बनायेंगे; जब कि उनकी शिक्षा के लिए उनसे खुद मेहनत कराकर वे उन्हें बहादुर और आत्मविश्वासी बना सकेंगे।

तालीम का यह तरीक़ा हिन्दू, मुसलमान, पारसी, ईसाई, सभी के लिये एक-साँ होगा। मुझसे पूछा गया है कि मैं धार्मिक शिक्षा पर कोई ज़ोर क्यों नहीं देता? वजह यह कि मैं उन्हें स्वावलम्बन का धर्म तो सिखा ही रहा हूँ, जो मेरे ख़याल में, सब धर्मों का अमली रूप है।

हाँ, जो लोग इस तरह की तालीम लेकर तैयार होंगे, उन्हें रोज़ी देना राज का फ़र्ज़ होगा। और जहाँ तक शिक्षकों या अध्यापकों का सवाल है, प्रोफेसर शाह ने लाज़िमी सेवा का तरीक़ा सुझाया ही है। इटली का और दूसरे देशों का उदाहरण देकर उन्होंने इसका महत्व भी बता दिया है। उनका कहना है कि जब मुसोलिनी इटली के नौजवानों को मुल्क की सेवा के लिए राज़ी कर सकता है, तो हम क्यों न कर सकेंगे? अपना रोज़गार शुरू करने से पहले अगर हमारे नौजवानों को एक या दो साल के लिए लाज़िमी तौर पर सेवा का या पढ़ाने का काम करना पड़े, तो उसे गुलामी कहना कहाँ तक ठकि होगा? पिछले सतरह बरसों में हमारे आज़ादी के अन्दोलन ने जो सफलता पाई है, उसमें नौ-जवानों का हिस्सा कम नहीं रहा है; इसलिए मैं उनसे कहूँगा कि वे अपनी ज़िन्दगी का एक साल देश की सेवा के लिए मुफ्त दे दें: खुशी-खुशी दे दें। इसके लिए क़ानून बनाने की ज़रूरत भी हुई, तो वह ज़बर्दस्ती न कहलायेगी, क्योंकि हमारे अधिकांश प्रतिनिधियों की रज़ामन्दी के बिना ऐसा क़ानून बन ही न सकेगा।

इसके लिए मैं उनसे पूछ लूँगा, कि हाथ-मेहनत या दस्तकारी के ज़रिये दी जाने-वाली यह शिक्षा उन्हें पसन्द है या नहीं। इसकी उपयोगिता की मेरी कसौटी तो यह होगी कि मैं इसे स्वावलम्बी बना दूँ। सात साल के अन्त में बालकों को इस क़ाबिल हो जाना चाहिए कि वे अपनी पढ़ाई का ख़र्च खुद अदा कर सकें, और अपने परिवार के कमाऊ पूत बन सकें।

आज कॉलेजों की शिक्षा ज़्यादातर शहरी है। यह तो मैं नहीं कहूँगा कि प्राथमिक शिक्षा की तरह यह भी बिलकुल असफल रही है, फिर भी इसका जो नतीजा हमारे सामने है, वह काफ़ी निराशा-जनक है। अगर ऐसा न होता, तो आज कोई ग्रेजुएट बेकार क्यों रहता ?

तकली को मैंने एक मूर्त्त उदाहरण के रूप में सुझाया है, क्योंकि **विनोबा** को इसका सबसे ज़्यादा व्यावहारिक अनुभव है। अगर इसके बारे में किसी के कुछ एतराज़ात हों, तो उनका जवाब देने के लिए वह यहाँ मौजूद हैं। **काका साहब** भी इस बारे में कुछ कह सकेंगे, हालाँ कि उनका अनुभव व्यावहारिक की बनिस्बत उसूली ज़्यादा है। उन्होंने **आर्मस्ट्रांग** की लिखी हुई 'एज्युकेशन फ़ॉर लाइफ़' पुस्तक पर, और उसमें भी हाथ की शिक्षावाले अध्याय पर खुसूसन मेरा ध्यान खींचा है। **स्वर्गीय मधुसूदनदास** थे तो वकील, मगर उनका यह पुख्ता खयाल था कि अगर हमने अपने हाथों और पैरों से काम न लिया, तो हमारा दिमाग़ कुन्द पड़ जायगा, और अगर उसने काम किया भी, तो वह शैतान का ही काम करेगा। टॉल्स्टॉय ने भी अपनी बहुतेरी कहानियों द्वारा हमें यही चीज़ सिखाई है।

भाषण के अन्त में **गांधीजी** ने स्वावलम्बी प्राथमिक शिक्षा की अपनी योजना का रहस्य समझाते हुए कहा :

हमारे यहाँ क़ौमी झगड़े होते रहते हैं, लेकिन यह कोई हमारी ही ख़ासियत नहीं है। **इंग्लैण्ड** में भी ऐसी लड़ाइयाँ हो चुकी हैं, और आज ब्रिटिश साम्राज्यवाद सारे संसार का शत्रु हो रहा है। अगर हम क़ौमी और अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष को बन्द करना चाहते हैं, तो हमारे लिए ज़रूरी है कि जिस शिक्षा की मैंने यहाँ हिमायत की है, उससे अपने बालकों को शिक्षित करके शुद्ध और सुदृढ़ आधार पर उसका आरंभ करें। मेरी इस योजना की तह में अहिंसा रही हुई है। और हालाँ कि, इसे मैंने संपूर्ण मद्य-निषेध के राष्ट्रीय निश्चय के सिलसिले में सुझाया है, तब भी मैं कहता हूँ कि अगर सरकारी आमदनी में कोई कमी न हो, और ख़ज़ाना हमारा भरा हुआ रहे, तौभी हमारे लिए शिक्षा का यही तरीक़ा उपयोगी होगा, बशर्ते कि हम अपने बालकों को शहरी न बनाना चाहें ! हम तो उन्हें अपनी संस्कृति, अपनी सभ्यता, और अपने देश की सच्ची प्रतिभा का प्रतिनिधि बनाना चाहते

हैं। और मेरे ख़याल में, स्वावलम्बी प्राथमिक शिक्षा के सिवा दूसरे किसी ढंग से हम उन्हें ऐसा बना नहीं सकते। इस मामले में यूरोप हमारा आदर्श नहीं बन सकता। क्योंकि वह हिंसा में विश्वास करता है, और इसीलिए उसकी तजवीजें और कार्रवाईयाँ हिंसा पर मबनी रहती हैं। रूस ने जो कामयाबी हासिल की है, उससे मैं कभी इनकार नहीं करता, लेकिन मानना होगा कि उसका सारा दारोमदार ज़ोर-ज़बर और हिंसा पर रहा है। अगर हिंदुस्तान ने हिंसा को छोड़ देने का निश्चय कर लिया है, तो उसे जिस अनुशासन में होकर गुज़रना पड़ेगा, शिक्षा का यह तरीक़ा उसका एक ख़ास अंग होगा। हमसे कहा जाता है कि इंग्लैण्ड शिक्षा पर लाखों रुपया खर्च करता है, और अमेरिका का भी यही हाल है; मगर कहनेवाले भूल जाते हैं कि उनका यह धन लूट का धन होता है। लूट या शोषण की इस कला को उन्होंने विज्ञान का रूप दे रक्खा है, और यही वजह है कि वे आज अपने बालकों को इतनी महँगी शिक्षा दे सकते हैं। लेकिन हम शोषण की बात न तो सोच सकते हैं, और न सोचना पसन्द ही करेंगे। इसलिए हमारे पास शिक्षा की इस अहिंसात्मक योजना के सिवा और कोई उपाय नहीं रह जाता।

: २ :

गांधीजी के इस भाषण के बाद उनकी प्रस्तावित योजना के कुछ मुद्दों की टीका करते हुए जामिया मिलिया इस्लामिया [राष्ट्रीय मुस्लिम विद्यापीठ], दिल्ली के आचार्य **डॉक्टर ज़ाकिर हुसैन** ने नीचे लिखी तक़रीर की :

अभी-अभी जो बात महात्माजी ने आपके सामने रक्खी है, उनका ख़याल है कि वह बिलकुल नई है और उसे वही मान सकता है, जो अहिंसा को मानता हो; जो गाँव की तहज़ीब को मानता हो; जो मुल्क को इस क़ाबिल बनाना चाहता हो कि वह अपनी तमाम ज़रूरतें खुद पूरा कर ले। मैं समझता हूँ, कि यह कह कर महात्माजी ने उन वज़ीर साहबान को, जो यहाँ बैठे हैं, कुछ डरा दिया होगा। लेकिन डरने की कोई बात नहीं है। महात्माजी ने जो बात सामने रक्खी है, वह उन लोगों को नई नहीं लग सकती, जो तालीम का काम करते हैं। उनको तो मालूम ही होगा कि बच्चों को अच्छी और सच्ची

तालीम तभी दी जा सकती है कि वे जब जो भी सीखें, कुछ करके सीखें। और, उन्हें यह भी मालूम होगा कि चाहे आदमी अहिंसा को माने या न माने, चाहे वह देहात की तहज़ीब चाहता हो, चाहे देश से अपनी सब ज़रूरतें आप पूरी कराना चाहता हो, या दूसरे देशों से लेन-देन को ठीक समझता हो; अगर उसे तालीम देनी है, तो उसकी यही सूरत है कि बच्चे कुछ हाथ का काम करें और उसकी मारफत से दूसरी चीज़ें भी सीखें। लोग इस बात को जानते हैं कि बचपन में कोई तेरह बरस की उमर तक बच्चे (चन्द बच्चों को छोड़कर) सब यही चहाते हैं कि कुछ करें, बनायें, बिगाड़ें, तोड़ें, और जोड़ें। कुदरत ने उन्हें सीखने-समझने का यही रास्ता दिखाया है। उन्हें किताबें देकर एक जगह बिठा देना उनके साथ हिंसा करना है। तालीम के सब माहिर इस बात को मानते हैं और बरसों से कोशिश कर रहे हैं कि किसी काम ही को बीच में रखकर सब कुछ सिखायें। इसे कहीं 'प्रोजेक्ट' (Project) का तरीक़ा कहते हैं, जैसे अमेरिका में; और कहीं 'कम्प्लेक्स' (Complex) का तरीक़ा, जैसे रूस में। हम ज़रूर ही अपनी तकली और चर्खे के काम को बीच में रखकर दूसरी चीज़ें सिखा सकते हैं, और इस गरज़ के लिए दूसरे धन्धे भी लिये जा सकते हैं।

पर सबसे बड़ी मुश्किल यह होगी कि इस तरह पढ़ाने और सिखानेवाले उस्ताद हमारे पास नहीं हैं। अगर हमें तकली से सब कुछ सिखाना होगा, तो बेसीखे उस्ताद इस काम को नहीं कर सकेंगे। मैं खुद तालीम का काम करता हूँ, मगर मुझे आज तकली के ज़रिये सब कुछ सिखना पड़े, तो मैं बड़ी मुश्किल में पड़ जाऊँगा। कुछ-कुछ समझ में आयेगा कि क्या करूँ, पर बहुत-कुछ समझ में नहीं आयेगा, और मैं भटकूँगा और अपने शागिर्दों को भी भटकाऊँगा। हाँ, अगर मेरे पास ऐसी किताबें हों, जिनमें रुई के और रुई कातने और कपड़ा बुनने के साथ-साथ जो चीज़ें मिलाई जा सकती हैं, उनका ज़िक्र हो, और पता चल सके कि मैं रुई और तकली की आड़ में उन्हें क्या-क्या सिखा सकता हूँ, तो ऐसी किताबों के सहारे मैं ज़रूर इसको कर लूँगा। यही हाल बहुत से और उस्तादों का होगा। और अगर हम इस काम को, जैसा कि महात्माजी कहते हैं, उसी तरह किया चाहते हैं, तो हमें उस्तादों और बच्चों के लिए वैसी किताबें भी तैयार करनी होंगी। मगर इसमें कुछ वक्त ज़रूर लगेगा और बहुत-सा इन्तज़ाम भी करना होगा।

फिर, ऐसी बातें भी होंगी, जिनका जानना हर हाल में ज़रूरी है, और हो सकता है कि हम उन सबका इल्म एक तकली के ज़रिये न दे सकें; तो क्या हम

उन चीज़ों को छोड़ देंगे ? नहीं। हमें हिसाब भी पढ़ाना होगा, जुग़राफ़िया भी बतानी होगी। इनमें कुछ बातें चर्खे और तकली के ज़रिये जरूर बता दी जायँगी, लेकिन जो रह जायँगी उन्हें भी बताना होगा। तकली के ख़ातिर उन्हें छोड़ देना ठीक न होगा। यह तो हमारा उसूल है कि हम हाथ के काम के ज़रिये दिमाग़ को भी तरक्की दें; पर हाथ का यह काम कोई ऐसी क़ैद नहीं है कि उसके बाहर क़दम रक्खा ही न जाय। हमें ऐसे काम और धन्धे ढूँढ़ने चाहिएँ, जिनसे दूसरी सब चीज़ें सिखाने का ज़्यादा से ज़्यादा मौक़ा मिले, और उनको तालीम का ज़रिया बनाना चाहिए।

अब मैं कुछ बातें स्वावलम्बी यानी 'सेल्फ़ सपोर्टिंग' तालीम की बाबत कहना चाहता हूँ। मैंने अभी कहा था कि यह तज़रबा नया नहीं; मगर जहाँ कहीं यह किया गया है, इसे स्वावलम्बी कोई नहीं बना सका। अमेरिका के मशहूर माहिरे-तालीम **जॉन डेवी** ने इसी तरह का एक तज़रबे का मदरसा खोला था, पर वह कुछ साल चलकर बन्द हो गया। और यह **डेवी** ऐसे मुल्क में था, जहाँ दौलत की कमी नहीं। यह भी नहीं कि वहाँ की हुकूमत इन बातों की मदद न करती हो। अमेरिका तो दुनिया के सबसे ज़्यादा मालदार देशों में है। जब वह मालदार ऐसे तज़रबों का बोझ न उठा सका, तो हमारे ग़रीब मुल्क में इसकी उम्मीद कैसे की जा सकती है ?

मगर आप कहेंगे कि हम ग़रीब हैं, इसीलिए तो स्वावलम्बी मदरसे चाहते हैं। ठीक है। पर मैं यहाँ एक ख़तरे की तरफ़ ध्यान दिलाना चाहता हूँ। आपने आजकल के किताबी मदरसों की जोभी बुराइयाँ सुन रक्खी हैं, मैं इसे उन सबसे बुरा समझता हूँ। मौजूदा मदरसों की बुराइयों में सबसे बड़ी चीज़ इम्तिहानों का डर है। उस्तादों की तरक्क़ी इम्तिहानों में लड़कों के पास होने पर होती है। उस्ताद उन्हें दिन-रात रटा-रटा कर पहले दर्जे में पास कराने की फ़िकर करते हैं, और बच्चों को हमेशा के लिए तबाह करके अपना काम बनाते हैं। यह बड़ी मुसीबत है। लेकिन क्या साथ ही यह डर नहीं है कि जब हम तकली और चर्खा चलवा कर उस्तादों की तनख्वाह निकलवायेंगे और मदरसे की अच्छाई-बुराई और उस्ताद की तरक्क़ी के लिए इम्तिहान के पहले दर्जे की जगह इतने मन सूत और इतने गज़ कपड़ा सामने रहेगा, तो क्या ये उस्ताद अपने शागिर्दों से ऐसे काम न लेंगे, जैसे ज़ालिम कारख़ानेदार मुद्दतों से छोटे बच्चों और औरतों से लेते रहे हैं ? अल्लाह न करे, मगर ऐसा हुआ तो हमारी तकली किताबों से भी

ज्यादा बुरी साबित होगी और इस अच्छी चीज़ से मुल्क में एक छिपी गुलामी की बुनियाद पड़ जायगी।

मैं जानता हूँ कि हमारे देश में हुकूमत के पास इतना रुपया नहीं है कि वह तालीम को उतना फैला सके, जितना हम चाहते हैं। अगर वह हमारे कहने पर तालीम को फैलाये, तो दिवाला निकल जाय। लेकिन इस तरह दिवाला निकल जाना अच्छा है, बनिबस्त इसके कि स्वावलम्बी मदरसों के धोखे में मुल्क की इख़लाकी कुवतों का दिवाला निकले ! पहले दिवाले से कौम सँभल सकती है, मगर दूसरे के बाद फिर काहे का सहारा लेगी ?

इसलिए तालीम का नया तरीका चलाने में इस खतरे को भूलना नहीं चाहिए।

: ३ :

ज़ाकिर हुसैन साहब की तक़रीर के बाद निज़ाम हैदराबाद के मौलवी अब्दुलहक़ साहब ने यह कहा कि महात्माजी की इस तजवीज के साथ ही हमें सात साल से कम उम्र के बच्चों की तालीम का भी इन्तज़ाम करना चाहिए।

: ४ :

आपके बाद डॉक्टर ज़ाकिर हुसैन ने फिर कहा :

"इन सात बरसों में बच्चों को किसी एक ही विषय के ज़रिये सब बातें सिखाई जायँगी; मगर मुख्तलिफ़ लड़कों को उसके मुख्तलिफ़ अंग पसन्द आयेंगे; इसलिए हमें सात साला कोर्स के बाद भी दो या तीन साल के लिए साहित्य, गणित, विज्ञान या उद्योग वग़ैरा के ख़ास कोर्स रखने पड़ेंगे।"

: ९ :

आपके बाद श्रीमती सौ० सौदामिनी मेहता ने गांधीजी की आज्ञा से गुजराती में नीचे लिखे आशय का भाषण किया :

आज मुझे सिर्फ़ दो बातें कहनी हैं। मेरी समझ में नहीं आता कि सरकार प्राथमिक शिक्षा पर ख़र्च क्यों न करे? नन्हें बालकों की शिक्षा तो समाज अथवा सरकार का सबसे बड़ा कर्त्तव्य है; इसलिए उसे पूरा अधिकार है कि वह सरकार से पैसा माँगे। जब लोक-हित के दूसरे अनेक कामों और मदों में सरकार पैसा ख़र्च कर सकती है, तो क्या कारण है, कि शिक्षा के समान अत्यन्त महत्त्व के काम के लिए वह आर्थिक सहायता न दे?

फ़िलहाल देश की ग़रीबी के कारण यदि हम गाँवों में प्राथमिक शिक्षा पर विशेष ख़र्च न कर सकें, तौभी किसी काम-चलाऊ उपाय का अवलम्ब तो ले ही सकते हैं। मेरी सूचना है कि शहरी शिक्षण-संस्थाओं पर सरकार इस समय जितना ख़र्च करती है, उसे बन्द कर दे, और शहरी शिक्षण की सारी ज़िम्मेदारी म्युनिसिपैलिटियों को सौंप दे। और इस तरीक़े से जो बचत हो, सो सब गाँवों की शिक्षा में लगा दे। यदि ऐसी व्यवस्था हो जाय, तो आज जितने बालक पढ़ते हैं, उससे दस गुना ज़्यादा बालकों को उतनी ही रक़म से हम पढ़ा सकते हैं।

हम अपने देश के ग्रामीण बालकों को पढ़ाना तो चाहते हैं, मगर इन भूखे बालकों को आख़िर हम क्या पढ़ा सकेंगे? जिस बालक का मन चौबीसों घण्टे खाने-पीने की ओर लगा रहता है, उसे इतिहास या भूगोल से क्या दिलचस्पी हो सकती है? उसके अन्दर भूख की जो ज्वाला सुलग रही है, वह न तो उसे लिखने-पढ़ने देगी, न किसी प्रकार का उद्योग-धन्धा सीखने देगी। इसलिए मुझे तो सरकार का सबसे पहला फ़र्ज़ यह मालूम होता है कि वह देहाती बालकों की भूख का इलाज करे। ऐसा प्रबन्ध होना चाहिए कि पाठशाला की ओर से बालकों को एक बार का भोजन अवश्य मिले। आप लोग पूछेंगे कि सरकार के पास शिक्षा पर ख़र्च करने को पैसा नहीं है, फिर वह बालकों के भोजन पर कहाँ से ख़र्च करेगी? ठीक है। लेकिन जो कर्त्तव्य है, उसका पालन तो करना ही चाहिए।

अतएव नये-नये कर बैठा करके भी इन भूखों की भूख का इलाज तो करना ही होगा। जब यह होगा, तभी इनकी सच्ची शिक्षा भी हो सकेगी।

: ६ :

श्रीमती मेहता के बाद बम्बई के सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री और अध्यापक श्री० खुशाल तलकशी शाह ने गांधीजी की तजवीज़ के कुछ मुद्दों से अपनी असहमति व्यक्त करते हुए नीचे लिखा भाषण किया :

मेरे विचार में स्वावलम्बी शिक्षा की जो बात इस योजना में रक्खी गई है, उसका सफल होना कठिन है। क्योंकि जो लोग 'फ्री सर्विस' देते हैं, वे भी एक प्रकार से कुछ खर्च ही करते हैं। और यह खर्च किसी न किसी पर तो पड़ता ही है। किसी पर काम का खर्च पड़ता है, तो किसी पर दाम का। यह सोचना कि सारी शिक्षा का कोई भी खर्च स्टेट या सरकार पर न पड़े, ठीक नहीं है। हाँ, इस चीज़ को मैं मानता हूँ कि जो काम इस वक्त जितने खर्च में होता है, वह इससे बहुत कम खर्च में हो सकता है। जो रक़म शिक्षा के मद में आज खर्च होती है, उसीसे, दस गुना ही क्यों, सौ गुना काम भी हो सकता है! मैं यह भी मानता हूँ कि आज शिक्षा पर जितना खर्च होता है, उसके मुक़ाबले देश को फ़ायदा बहुत कम पहुँचता है। प्राइमरी स्कूलों में आज जो लड़के दाखिल होते हैं, उनमें सैकड़ा बीस भी ऐसे नहीं होते, जो छठे दर्जे तक या मिडिल तक पहुँचते हों। इसलिए इन मानों में आजकल की यह शिक्षा बिलकुल निकम्मी है। गाँवों में तो अक़सर यह पाया जाता है कि ज्यादातर लड़के पढ़कर भी अनपढ़ ही बने रहते हैं—वक्त के साथ लिखा-पढ़ा सब भूल जाते हैं।

अभी ज़ाकिर हुसैन साहब ने यह कहा कि महात्माजी अपनी इस तजवीज़ को नई बतलाते हैं, लेकिन दर असल यह नई नहीं है। इसका मतलब सिर्फ़ यही है कि आज जितने 'एज्युकेशनिस्ट' (शिक्षा-शास्त्री) हैं, वे सब शिक्षा में उद्योग या दस्तकारी के महत्त्व को मानते हैं। लेकिन इन उद्योग-धन्धों के सिखाने में जितना खर्च होता है, उतना फ़ायदा नहीं होता। हम तो यह चाहते हैं कि उतने ही खर्च में देश के अन्दर शिक्षा

का ज़्यादा से ज़्यादा फैलाव हो जाय। मैं समझता हूँ कि इस समय जितने खर्च में १५-२० लड़के प्राइमरी तालीम लेते हैं, उतने में १०० लड़के शिक्षा पा सकते हैं।

दूसरी बात, जिसे आप सब लोग मंजूर करेंगे, यह है कि १२-१३ साल की उमर के बाद बच्चों का दिमाग़ काम करने लगता है– उसका विकास शुरू होता है। इस उमर तक तो उनको जो कुछ भी सिखाया-पढ़ाया जाता है, वे सीख-पढ़ लेते हैं। बाद में बहुत-कुछ आधार परिस्थिति का होता है। माँ-बाप के विचारों और आदर्शों का भी असर पड़ता है। अगर लड़कों को सात-आठ साल तक किसी ख़ास तरह की ही शिक्षा दी जाय, तो इस अर्से में वे इस शिक्षा के अनुसार एक ख़ास स्टैण्डर्ड के आदमी ज़रूर बन जायँगे। लेकिन इसमें ख़तरा यह है कि मुल्क में एक तरह की ग़रीबी बढ़ जायगी, जैसा कि अभी डॉक्टर ज़ाकिर हुसैन साहब ने भी कहा है। इसलिए सबसे पहले ज़रूरत इस बात की है कि बच्चों की तालीम का एक पूरा 'प्लैन' बना लिया जाय, और इस 'प्लैन' के अनुसार सबको यकसाँ तालीम दी जाय। उसके बाद जैसी जिसकी परिस्थिति और रुचि हो, जैसे ख़यालात हों, वैसा अलग-अलग प्रबन्ध किया जाय।

आप सब लोग हाथ के काम पर ज़ोर देते हैं; मैं भी कहता हूँ कि ज़रूर ज़ोर देना चाहिए। लेकिन साथ ही मैं यह भी कहूँगा कि ज़माना हाथ के काम का नहीं है—कल-कारख़ानों का है, मशीनों का है। अगर आप लोग हाथ के काम पर बहुत ज़्यादा ज़ोर देंगे, और मशीनों को बिलकुल अलग रक्खेंगे, तो मैं समझता हूँ, उससे देश का बड़ा नुकसान होगा। मुमकिन है, आपके तरीक़े से हिंदुस्तान की आमदनी बढ़ जाय। लेकिन सवाल आमदनी बढ़ाने का नहीं है। सवाल तो बँटवारे का है; वितरण का है। यह है कि जो सम्पत्ति पैदा हो, उसका वितरण कैसे किया जाय?

मैं हाथ के विकास को आवश्यक समझता हूँ। लेकिन मैं यह नहीं मानता कि काम हाथ ही का हो, मशीन का नहीं। आख़िर मशीन है क्या चीज़? यही न कि जिस काम को हाथ तकलीफ़ से और ज़्यादा वक्त में करता है, मशीन उसे आसानी से और थोड़े समय में कर देती है। अर्थात् मशीन में 'ह्यूमन पॉवर' (मानवी शक्ति) के विपरीत जो दूसरी 'पॉवर' होती है, वह मनुष्य की अपेक्षा ज़्यादा काम करके देती है। मैं हाथ का विरोधी नहीं हूँ; मगर मशीन को भी आवश्यक समझता हूँ।

तीसरा खतरा यह है कि अगर आप इसे अपना 'आइडियल' (आदर्श) बनाते हैं, और कहते हैं कि शिक्षा का सारा खर्च उसीमें से निकल आना चाहिए, तो उसका नतीजा बहुत बुरा होने वाला है। जो मंत्रीगण यहाँ बैठे हुए हैं, वे अपने मातहत अफ़सरों से कहेंगे कि बस, इस ढंग से काम लो! और, अफ़सर शिक्षकों से कहेंगे कि बस इसका प्रयोग करो! नतीजा यह होगा कि जिस तरह सम्मान और तरक्की के लिए आज किताबें रटाकर परीक्षायें पास कराई जाती हैं, उसी तरह तब मेहनत-मज़दूरी ज्यादा कराई जायगी और शिक्षा या तालीम को लोग भूल जायँगे। और, यह हालत किन्हीं एक या दो स्कूलों की नहीं, बल्कि हिन्दुस्तान-भर के स्कूलों की होगी। सोचिये कि इसका क्या असर होने वाला है। आज हिन्दुस्तान में क़रीब साढ़े तीन करोड़ बच्चे हैं। जिस दिन ये सब उद्योग-धन्धों में लग जायँगे, और स्कूलों में माल पैदा करने लगेंगे, उस दिन बाज़ार का क्या हाल होगा? इनके माल को तो आप मुँह-माँगा दाम देकर ख़रीद लेंगे; तिस पर इन्हें मकान, 'मटीरियल' [माल] और तालीम वगैरा सब मुफ्त देंगे और इनसे लेकर इनके तैयार माल को बाज़ार में बेचेंगे भी! परिणाम में उन लोगों के साथ ज़ोरों की होड़ ठनेगी, जो आज इन पेशों में पड़े हुए हैं और अपना गुज़र-बसर करते हैं। सोचिये कि उनकी क्या हालत होगी? आपके विद्यार्थी स्कूलों में कपास और चमड़े वगैरा से चीजें तैयार करेंगे और आप उन्हें ख़रीद लेंगे। आपको ख़रीदना पड़ेगा! ऐसी हालत में उन १०-१२ करोड़ आदमियों के माल का क्या होगा, और उनकी कैसी हालत होगी, जो पहले से इन कामों में पड़े हुए हैं। मेरे ख़याल में इस उलझन से निकलने का एक तरीक़ा यही हो सकता है कि आप अपने देश में चीन, जापान, अमेरिका और इंग्लैण्ड वग़ैरा देशों से कोई चीज़ अन्दर न आने दें, और अपने देश में भी मशीनों द्वारा कोई माल तैयार न करें। इसके सिवा कामयाबी की और कोई सूरत मुझे नहीं दीखती।

अगर परदेशी माल की आमद जैसी की तैसी बनी रहे, और देश के कल-कारखाने भी चलते रहें, तो मैं समझता हूँ, कि आपकी इस स्कीम के कारण देश के ग़रीब पेशेदारों की जान आफ़त में पड़ जायगी और देश की ग़रीबी भी बढ़ जायगी।

इसलिए मेरी तो यह सलाह है कि शिक्षा पर जो ख़र्च हो, सब स्टेट यानी सरकार बरदाश्त करे, और जो माल तैयार हो, उसे भी ख़रीदे। मुझे यह ठीक मालूम होता है। लेकिन मैं इस बात को मानने से इनकार करता हूँ कि शिक्षा का सारा ख़र्च

लड़कों के काम से निकल आये या निकाला जाये। सारे मुल्क को ध्यान में रख-कर अगर इसपर ग़ौर किया जायगा, तो मैं समझता हूँ कि मेरी बात आप लोगों को भी जँचेगी। मुझे तो इसमें काफ़ी ख़तरा मालूम होता है। इसलिए मैं चाहता हूँ कि पहले एक प्लैन बनाया जाय और फिर उसके अनुसार अमल हो।

: ७ :

श्री. शाह के बाद कानपुर के श्री. हीरालालजी खन्ना ने प्रस्तावित योजना के सिलसिले में नीचे लिखे विचार प्रकट किये :

जो सवाल आज हमारे सामने है, उसके महत्त्व का अन्दाज़ा लगाना आसान नहीं। जैसा कि जाकिर हुसैन साहब ने फ़रमाया है, यों तो, कोई भी अनुभवी-शिक्षक ऐसा नहीं हो सकता, जो हाथ के काम और धन्धों को शिक्षा में विशेष स्थान न देना चाहता हो; किन्तु जो महत्त्व महात्माजी उसको देना चाहते हैं, यह उनकी अपनी निजी योजना है। इस योजना को पूरी तरह कार्यान्वित करने के लिए हमें अपनी पूरी ताक़तें लगा देनी चाहिएँ। प्राइमरी शिक्षा प्राप्त करने के बाद बहुत-से बच्चे अपनी पढ़ाई बन्द कर देते हैं, और इस प्रकार थोड़े दिनों बाद ही उनका अक्षरज्ञान सदा के लिए उनसे ग़ायब हो जाता है और वे निरक्षर के निरक्षर ही बने रहते हैं! इस प्रकार उनकी शिक्षा पर व्यय किया जानेवाला धन व्यर्थ हो जाता है। उनको साक्षर बनाये रखने के लिए अन्य देशों की तरह प्रौढ़-शिक्षा (adult education) की एक योजना हमारे यहाँ भी होना बहुत ज़रूरी है।

यदि सप्तवर्षीय शिक्षा-योजना, जैसा कि महात्माजी चाहते हैं, सबके लिए ज़रूरी और बाध्य कर दी जाय, तो एक बार शिक्षा प्राप्त कर लेने के बाद, उनकी तरफ़ से उनकी निरक्षरता का कोई भय नहीं रह जायगा। इन सब बातों पर पूरी तरह विचार कर लेने के बाद, जहाँ तक सात वर्ष की लगातार शिक्षा देने और हाथ के धन्धों का सवाल है, किसी प्रकार के मतभेद की गुञ्जाइश नहीं हो सकती। अब रहा उसके

स्वावलम्बी होने का सवाल, अथवा संस्थाओं को चलाने के लिए उन्हींसे खर्च निकालने का सवाल; यहाँ पर इख्तिलाफ़ है। यदि ऐसा हो सके, तो बड़ा ही सुन्दर है। समय, काल और देश की परिस्थितियों पर विचार करते हुए, बिना ऐसा हुए काम भी चलता हुआ नज़र नहीं आता। किन्तु जो बातें **अध्यापक शाह** ने रक्खी हैं, वे भी विचारणीय हैं। बुद्धि को, उन तजवीज़ों को स्वीकार करना ही पड़ता है। बच्चों द्वारा बनाई गई चीज़ों की आमदनी से कुछ हद तक तो चालू खर्चा निकल सकता है; और इसका तो मुझे खुद भी अनुभव है। कानपुर में 'सिटी एंग्लो वर्नाक्युलर वोकेशनल-स्कूल' नाम की एक संस्था कुछ मित्र चला रहे हैं, जहाँ प्रत्येक विद्यार्थी अपनी फ़ीस की रक़म अपने आप पैदा करने के लिए उत्साहित किया जाता है, और आशा की जाती है कि थोड़े दिनों बाद वह शायद पूरी फ़ीस इसी तरह पैदा करने लगे। कुछ भी क्यों न हो, महात्माजी के दिखाये हुए मार्ग पर चलने के लिए हमको अपने-अपने क्षेत्र में पूरे तौर से कोशिश करना चाहिए।

अपनी छोटी समझ के अनुसार एक बात मुझे और अर्ज़ करनी है। मेरे विचार में, प्राथमिक, माध्यमिक और उच्च शिक्षा पर एक समय और एक साथ ही विचार होना चाहिए। ये सब 'स्टेजेस्' एक सूत्र से बँधी हुई हैं। एक का प्रभाव दूसरी पर पड़ता है। चुस्त दीवारें खड़ी करके हम इनको एक दूसरे से अलग नहीं कर सकते। इसलिए मेरी समझ में तो शिक्षा के सब विभागों को ध्यान में रखते हुए ही हमें उसके किसी एक अंश पर कुछ फ़ैसला करना चाहिए। शिक्षा के प्रत्येक विभाग में धन्धों का क्या स्थान होना चाहिए, इसकी जाँच करके रिपोर्ट करने के लिए हमारे प्रान्त में **सर ज्वालाप्रसाद श्रीवास्तव** ने अपनी वज़ारत के काल में एक कमेटी नियुक्त की थी, जिसकी दो बैठकें भी हुई थीं। परन्तु आजकल वह कमेटी खतम हो चुकी है। अब कांग्रेस-मंत्रि-मण्डल से संचालित सरकार अपना जैसा निर्णय देगी, उसी निर्णय के अनुसार काम किया जायगा।

: ८ :

आपके बाद तिलक विद्यालय, नागपुर के आचार्य **श्री. तिजारेजी** ने स्वावलम्बी शिक्षा के बारे में अपना अनुभव सुनाते हुए नीचे लिखा भाषण किया :

जहाँ तक मैं समझा हूँ, हमारी चर्चा का आशय यही है कि विद्यार्थी और शिक्षक दोनों मिलकर स्कूलों में दस्तकारी या उद्योग-धन्धों को शुरू करें और इनकी आमदनी से स्कूल का खर्च चलायें। मेरे विचार में यह कोई बड़ी या असम्भव बात नहीं है। हम लोगों ने अपने विद्यालय में इसका प्रयोग करके देखा है। और मुझे यह कहते हुए हर्ष होता है कि इस प्रयोग के कारण हमें बड़ा लाभ हुआ : हमारी संस्था पर जो कर्ज़ था, सो सब हमने अपनी और अपने छात्रों की कमाई से अदा कर दिया। इसका मतलब यह नहीं कि हमने अपने यहाँ केवल हाथ ही का काम किया। हाथ के काम के साथ मस्तिष्क का काम भी हमने किया है और हम उसमें मानते हैं। हमारा यह भी विश्वास है कि शिक्षा स्वावलम्बी ही होनी चाहिए। हमने अनुभव से देखा है कि जो लोग केवल हाथ का काम करते हैं, यानी पेशेदार बन जाते हैं, वे राष्ट्रीय कामों में बहुत कम आगे आते हैं, इसलिए हमारे स्वतंत्रता के आन्दोलनों और यज्ञों में उनका विशेष उपयोग नहीं होता। अतएव स्पष्ट है कि हाथ के साथ हमें दिमाग़ को भी तैयार करना होगा। बालकों में देश-प्रेम और स्वातंत्र्य की त्याग और सेवा की भावना उत्पन्न करनी होगी। और, जहाँ तक कम खर्च में पाठशालायें चलाने का सवाल है, मैं मानता हूँ कि अगर हमारे प्रान्त के मंत्री महोदय मुझे अपने वेतन में से आधा, यानी २५०) रुपया भी दे दें, तो मैं उन्हें यह काम करके दिखा सकता हूँ, और इस इतनी-सी रक़म की सहायता से ५० पाठशालाओं को अच्छी तरह चला सकता हूँ।

: ९ :

श्री. तिजारेजी के बाद खामगाँव राष्ट्रीय विद्यालय के आचार्य ने योजना का स्वागत करते हुए अपनी कुछ शंकाओं की सफ़ाई में नीचे लिखे विचार प्रकट किये :

यहाँ हमसे यह कहा गया है कि जो भी शिक्षा दी जाय, सब उद्योग-धन्धों द्वारा दी जाय। इसमें सामान्य ज्ञान भी आ जाता है। यह भी कहा गया है कि अंग्रेज़ी को छोड़ कर हाईस्कूल तक की सब पढ़ाई इसमें आ जाती है। और यह सारा प्राथमिक ज्ञान उद्योग द्वारा दिया जाने वाला है। यहाँ तक कि गणित का ज्ञान भी उद्योग द्वारा, यानी तकली द्वारा, दे दिया जायगा। परन्तु समझ में नहीं आता कि गणित का या अन्य सब विषयों का सम्पूर्ण ज्ञान तकली द्वारा कैसे दिया जा सकेगा ?

स्वावलम्बन के बारे में मेरा यह ख़याल है कि यदि महात्माजी के कथानुसार हम तीन घण्टे उद्योग को दें, और जो चीज़ें तैयार हों, उनकी बिक्री का प्रबन्ध भी करें, तो इस योजना के अनुसार सात साल के अन्दर हम शिक्षा को सम्पूर्ण नहीं, तो आधों-आध अवश्य ही स्वावलम्बी बना सकते हैं। लेकिन इसमें बच्चों के साथ जुल्म होने का ख़तरा ज़रूर है। क्योंकि उस हालत में हमारे अध्यापकों की कोशिश यह होगी कि लड़के ज्यादा से ज्यादा उत्पादक चीज़ें तैयार करें। इसलिए इस दिशा में क़दम बढ़ाने से पहले इसका कोई उपाय हमें सोच लेना होगा। मेरी समझ में तो यह आता है कि आर्थिक ज़िम्मेवारी सीधी स्कूलों पर या शिक्षकों पर न रहे; स्टेट या सरकार को ही उसका ज़िम्मा लेना चाहिए।

: १० :

आपके बाद डॉ. भागवत ने अपने अनुभवों का उल्लेख करते हुए योजना के स्वागत में नीचे लिखे विचार प्रकट किये :

मुझे गाँवों का और ग्राम-सेवा का १०-१२ साल का अनुभव है। मेरे विचार में शिक्षा की हमारी यह नई योजना गाँवों में ग्राम-पंचायतों की सहायता से बहुत-कुछ सफल हो सकती है। और, मुझे पूरा विश्वास है कि गाँव की जनता इसमें सहर्ष सहयोग देगी। जहाँ तक पढ़ाई और प्रबन्ध का सवाल है, उन लोगों से हमें पर्याप्त सहायता मिल सकती है, और मिलनी चाहिए, जो सेवा-निवृत्त (रिटायर) हो चुके हैं या पेंशन पाते हैं। मैं समझता हूँ, शहरों, कस्बों और गाँवों में, हर जगह, हमें ऐसे स्त्री-पुरुष काफ़ी मिल सकते हैं।

पाठशाला की दिनचर्या के बारे में मेरा विचार यह है कि कुल नौ घण्टे का काम होना चाहिए : ३ घण्टे शारीरिक, ३ घण्टे बौद्धिक, और ३ घण्टे नैतिक।

इस योजना के अनुसार शिक्षा को स्वावलम्बी बनाने के विषय में मेरा विचार यह है कि बिलकुल शुरू से तो यह स्वावलम्बी नहीं होगी; किन्तु धीरे-धीरे अवश्य हो जायगी। इसके लिए आरम्भ में कुछ थोड़े-से गाँव चुनकर वहाँ प्रयोग शुरू करना चाहिए। मैं अपने अनुभव के बल पर यह कह सकता हूँ कि इस तरह चलाने पर ५-७ बरस में यह योजना अवश्य सफल होगी।

: ११ :

फिर गांधीजी की प्रेरणा से बिहार के शिक्षा-मंत्री माननीय **डॉ. सैयद महमूद** ने मूल प्रस्ताव का स्वागत करते हुए नीचे लिखी तक़रीर की :

महात्माजी ने तालीम के बारे में अभी जो तजवीज़ पेश की है, वह बहुत अहमियत रखती है, और बिलकुल नई चीज़ है। उनकी बातें बुनियादी हैं और हमारी तहज़ीब से उनका ताल्लुक है। सबसे बड़ी बुनियादी बात यह है कि हम अपने मुल्क में

कैसे नागरिक पैदा करना चाहते हैं। हमें ज़्यादा खुशी हासिल होगी और हमारा इतमीनान बढ़ेगा, अगर, जैसा कि **महात्माजी** चाहते हैं, हम इस तजवीज़ को चला सकें और कामयाब करके दिखा सकें। मगर मुझे खौफ़ है कि दुनिया की मौजूदा कूवतों को देखते हुए, हमारे मुल्क में यह चीज़, इसी ढंग से, शायद हम चला न सकें। लेकिन अगर चला सकें, और हो सके, तो यह निहायत उम्दा चीज़ है और ज़रूर होनी चाहिए। तालीम के माहिरों का खयाल है, कि इन्सान की तालीम में हाथ को पहला दखल होना चाहिए। और मैं भी समझता हूँ कि हमारे मुल्क में आज इस चीज़ की बड़ी ज़रूरत है कि हम हाथ और दिमाग़ दोनों को जोड़ कर चलें।

लेकिन जहाँ तक तालीम को 'सेल्फ़ सपोर्टिंग' (स्वावलम्बी) बनाने का सवाल है, मैं नहीं समझता कि हम अपने बच्चों के हाथ की बनी चीज़ें बेचकर स्कूल का खर्च निकाल सकेंगे। यह इतना मुमकिन नहीं मालूम होता। फिर, जैसा कि **प्रोफेसर शाह** ने कहा है, 'कॉम्पिटिशन्' के सवाल को भी हम नज़र-अन्दाज़ नहीं कर सकते। मगर और तरीकों से हम तालीम के मौजूदा बोझ को हलका ज़रूर कर सकते हैं। एक तरीका खर्च कम करने का है। और यह किया जा सकता है। दूसरी तरह से भी थोड़ी किफ़ायत हो सकती है। स्कूलों में जो दस्तकारी सिखाई जायगी, उससे भी थोड़ी आमदनी होगी, जो स्कूल के बोझ को थोड़ा हलका कर सकेगी; लेकिन दीगर खर्च तो सब स्टेट को ही बरदाश्त करना होगा।

'युनिवर्सल' या आम तालीम के लिहाज़ से **महात्माजी** का सात साला कोर्स तो ज़रूरी मालूम होता है, और वह रहना भी चाहिए; लेकिन जैसा कि डॉक्टर ज़ाकिर हुसैन साहब ने कहा है, इस सात साला कोर्स के बाद दो या तीन साल के कुछ खास कोर्स ज़रूर रहने चाहिएँ।

: १२ :

आपके बाद अहमदाबाद म्युनिसिपल बोर्ड के चेअरमन और प्रोप्राइटरी हाईस्कूल, अहमदाबाद के संयुक्त आचार्य **श्री. बलवन्तराय ठाकोर** ने शहरों में प्राथमिक शिक्षा को स्वावलम्बी बनाने की बात पर सन्देह प्रकट करते हुए कुछ शब्द कहे :

मैं मानता हूँ कि उद्योग-धन्धों की शिक्षा से हमारे बालकों में अवलोकन की, निर्णय की और वस्तु की यथार्थता को जानने-परखने की शक्ति पैदा होगी। लेकिन मेरी समझ में यह नहीं आता कि इस चीज़ को हम अपने शहरी स्कूलों में किस तरह अपना सकेंगे और कैसे इसके द्वारा, महात्माजी के अर्थों में, शिक्षा को स्वावलम्बी बना सकेंगे ?

* * *

इस प्रकार पहले दिन परिषद् की सुबह की बैठक ठीक ११-३० बजे समाप्त हुई। सभापतिजी ने सूचित किया कि दुपहर को ठीक ढाई से पाँच तक फिर बैठक होगी।

दूसरी बैठक

वक्ता

१. महात्मा गांधी
२. आचार्य विनोबा भावे
३. आचार्य प्रफुल्लचंद्र राय
४. आचार्य काका कालेलकर
५. सौ. आशादेवी आर्यनायकम्
६. माननीय पं. रविशंकरजी शुक्ल

दूसरी बैठक

ताः २२-१०-३७ | समय : दुपहर २-३० से ५

शुरू में गांधीजी ने सुबह की चर्चा के समय अनेक वक्ताओं ने जो टीकायें की थीं और शंकायें उठाई थीं, उनका स्पष्टी-करण करते हुए नीचे लिखा भाषण किया :

मैंने आज सुबह आपके सामने एक ऐसी चीज़ रक्खी है, जिसके ज़रिये हम अपने बालकों को दिलदार और दिलेर बना सकते हैं। सात साल तक स्कूलों में सिर्फ़ तकली ही चलाते रहने की बात मैंने नहीं कही। मेरी राय है कि शुरू साल, तकली से पहले, बालकों को थोड़ी धुनाई सिखाई जाय। फिर खेतों में जाकर कपास बीनना बताया जाय। इसीके साथ बालकों को कुछ खास बातें भी सिखाई जा सकती हैं, लेकिन पहले ही साल इनका बोझ बच्चों पर डालना ठीक न होगा। कपास बीनने और रुई धुनने के बाद बालक तकली चलाना सीखेंगे। फिर चर्खे का नम्बर आयेगा। सूत की कताई के बाद चर्खा और तकली बनाने का काम भी हमारे सामने रहेगा। जब बालक चर्खा बनाना सीखेंगे, तो उन्हें बढ़ई और लुहार का काम भी सीखना पड़ेगा। आज हमारे गाँवों में जो कारीगर हैं, उनके काम में हाथ की सफ़ाई नज़र नहीं आती। लुहार लोहा पीटने का काम करता ज़रूर है, लेकिन उसे तकुआ या तकली बनाने का इल्म नहीं! चर्खे के लिए तकुआ बिलकुल सीधा और सच्चा बनना चाहिए, वर्ना वह किसी काम का नहीं रहता। अगर इस चीज़ को गाँवों में बनाने का कोई प्रबन्ध हम कर सकते हैं, तो वह दूसरे साल की पढ़ाई में शामिल होगा। इस तरह सिलसिलेवार काम करने से आगे सफलता ज़रूर मिलेगी।

प्रोफेसर शाह कहते हैं कि जबतक हिन्दुस्तान में विदेशों से तैयार माल आता रहेगा, तबतक हम अपने माल से उसका मुक़ाबिला कैसे करेंगे ? और हमारे देश के अन्दर जो लाखों-करोड़ों कारीगर काम कर रहे हैं, उनका क्या हाल होगा ? पहली बात तो यह है कि आज इस तरह के मुक़ाबले का कोई अंदेशा है ही नहीं; और अगर हो भी तो वह पहले मिलों के साथ हो सकता है और बाद में, जहाँ तक कपड़े का सवाल है, चर्खा-संघ के साथ । चर्खा संघ को आज इसकी कोई चिन्ता नहीं है । मिलों को भी कोई डर नहीं हो सकता; क्योंकि उनका माल आज भी बाज़ार में सस्ता बिकता है । फिर इस सिलसिले में एक ख़ास बात, जिसे हम भूल जाते हैं, यह है कि मैंने जो चीज़ आपके सामने रक्खी है, वह ख़ासकर गाँवों के लिए है । और जब हमारे मिनिस्टर मुल्क में इसके अनुकूल आबोहवा पैदा करेंगे, तो लोग ज़्यादा दाम देकर भी हमारी चीज़ों को ख़रीदना पसन्द करेंगे। इस तरह हमारा माल बाज़ार में बिक सकेगा । और जहाँ तक कपड़े की बात है, मैं समझता हूँ कि हमारी सरकारों को अपनी ज़रूरत का तमाम कपड़ा हमीं से ख़रीदना होगा; चाहे कुछ ज़्यादा दाम देकर ही क्यों न ख़रीदना पड़े । उदाहरण के लिए यरवड़ा जेल के छापाखाने को लीजिये । उसकी दरें ज़्यादा हैं, तब भी सरकार अपना काम वहीं कराती है और बाहर वालों के साथ मुक़ाबले का कोई सवाल पैदा नहीं होता । इसी तरह हमारा भी काम चलना चाहिए ।

शुरू-शुरू में देहाती मदरसों में बच्चे कुछ-न-कुछ बिगाड़ ज़रूर करेंगे; लेकिन अगर उस्ताद अच्छा रहा, तो वह देख लेगा कि वे कम से कम बिगाड़ें और ज़्यादा से ज़्यादा बनाते या पैदा करते हैं। यह सच है कि जो माल बाहर तैयार होता है, उतना सस्ता यह माल न हो सकेगा। बाहरी चीज़ें ज़्यादा सस्ती होती हैं, लेकिन जैसे खद्दर में, वैसे इनमें भी, मुक़ाबले की कोई बात पैदा नहीं होती । जहाँ तक मैं जानता हूँ, गाँवों में ऐसी कोई चीज़ नहीं है, जिसे मुक़ाबले का डर हो या उसका सामना करना पड़े । काग़ज़ ही को ले लीजिये। गाँवों में यह धन्धा लगभग मिट ही चुका था । इधर ग्राम-उद्योग-संघ की कोशिशों से फिर कहीं-कहीं जी उठा है । अब देखने में इस काग़ज़ के दाम कुछ ज़्यादा ही दिखते हैं, फिर भी लोग हिम्मत करके इसे खरीद ही रहे हैं । इस तरह गाँवों में हमारे बच्चों द्वारा जो चीज़ें बनेंगी, उन्हें भी लोग ज़रूर खरीदेंगे । जब बालक खुद काग़ज़ बनाना सीख जायँगे, तो वे अपने हाथों बने काग़ज़ पर ही लिखेंगे और जब जनता को इसका पता चलेगा, तो वह भी इसी काग़ज़ का इस्तेमाल शुरू कर देगी । इस तरह हम किसी की राह में रोड़े नहीं डालेंगे, बल्कि उनके रास्ते को और भी साफ़ और मज़बूत कर देंगे ।

यही बात गुड़ के लिए भी कही जा सकती है। हमारे देश में खजूर और ताड़ के इतने पेड़ हैं कि आज उनका कोई उपयोग नहीं हो रहा। अगर हम बालकों को इनके रस से गुड़ बनाना सिखा दें, तो हज़ारों मन गुड़ हर साल तैयार कर सकते हैं। इसके कारण ईख से गुड़ बनाने वालों के साथ होड़ का कोई सवाल खड़ा नहीं होता। जैसे कि आज ईख से गुड़ बनाने वालों को मिल वालों से कोई होड़ नहीं है। इस तरह अगर हमारे लड़कों ने खजूर और ताड़ से गुड़ बनाना सीख लिया, तो गुड़ के व्यवसाय में बड़ी भारी उन्नति हो सकती है, और इस काम में हमें स्टेट से भी मदद मिल सकती है।

अब मशीनरी के सवाल को लीजिये। जिनका यह कहना है कि हमें मशीनरी से तो काम लेना ही पड़ेगा; किसी भी हालत में हम उससे बच नहीं सकते, उनसे मैं यह कहा चाहता हूँ कि हमें मशीनरी की बिलकुल दरकार नहीं। जहाँ तक कपड़े का सवाल है, हमें हाथ के बने गाढ़े के कपड़े ही पहनने चाहिएँ। मिलों की हमें कोई ज़रूरत नहीं। अपनी ज़रूरत का सारा कपड़ा हमें अपने गाँवों में पैदा कर लेना चाहिए और हम इसे कर भी सकते हैं। मेरे खयाल में हमें मशीनरी का गुलाम बनने की कोई ज़रूरत नहीं। मुझे डर है, कि जिस तरह बैलों के साथ रहकर हम बैल-से बन गये हैं, उसी तरह मशीनों के साथ रहकर मशीन भी बन गये हैं, और हाथ की कला एवं कारीगरी को खो बैठे हैं। अगर आपका यह खयाल हो कि मशीन तो अनिवार्य है, उसके बिना काम चल ही नहीं सकता, तो मैं कहूँगा कि मैंने जो तजवीज़ रक्खी है, वह आपके किसी काम की नहीं है। आप मशीनों के ज़रिये हमारे गाँवों को ज़िन्दा रखने की बात सोच रहे हैं और लड़कों को उन्हींके मारफत कुछ तालीम देना चाहते हैं; मगर मेरे खयाल में यह चीज गलत है और हिन्दुस्तान में किसी हालत में चल नहीं सकती। यह ३५ करोड़ लोगों को बेकार कर देने की बात है। अगर आपका यह खयाल है कि मशीनरी रुक नहीं सकती, तो मैं कहता हूँ, मेरी इस तजवीज़ को आप ठुकरा दीजिये, और जो दूसरी बेहतर तजवीज आपके खयाल में हो, पेश कीजिये। मैं आपका एहसानमन्द हूँगा।

मैं देखता हूँ कि **प्रोफेसर शाह** और **डॉक्टर ज़ाकिर हुसैन** दोनों मेरी तजवीज़ का विरोध कर रहे हैं, और दोनों के लिए मेरे दिल में खासी मुहब्बत है।

जाकिर साहब ने कहा कि **डेवी** (Dewey) की 'प्रोजेक्ट' मेथड चल नहीं सकी। मेरे ख़याल में इसकी वजह यह रही कि उनका तरीक़ा बहुत खर्चीला है, और वह बड़े पैमाने पर चल नहीं सकता। मेरी तजवीज़ इससे बिलकुल अलग है, और वह एक देहाती तजवीज़ है। उससे हम अपने लड़कों को बहुत-कुछ लाभ पहुँचा सकते हैं। मैं तो जो चीज़ हमारे यहाँ चल रही है, उसीमें नई जान फूँकने की बात कर रहा हूँ। लेकिन अगर आपको इसकी सफलता में सन्देह है, तो आप ज़रूर इसे छोड़ दें। मगर जो कुछ भी तय करें, सोच-समझ कर करें। इसीलिए मैंने आप सबको यहाँ इकट्ठा किया है। इस पर आप खूब ग़ौर कर लीजिये, और आपका विश्वास बैठता हो, तो इसे मंजूर कीजिये, वर्ना जाने दीजिये। कहा गया है कि इस तजवीज़ के कारण स्कूलों में एक नई तरह की गुलामी के पैदा होने का डर है। मैं इसे मानता हूँ। लेकिन यह बात तो हर अच्छी चीज़ के लिए कही जा सकती है; क्योंकि अच्छी चीज़ भी जब बुरे हाथों चली जाती है, तो बुरी बन जाती है। इसलिए मैं नहीं चाहता कि मेरी चीज़ ऐसे लोगों के हाथ में पड़े, जिन्हें न इस पर श्रद्धा है, न एतबार है।

एक बात इस सिलसिले में मैं और साफ़ कर देना चाहता हूँ। मेरी तजवीज़ सिर्फ़ उद्योग सिखाने के लिए नहीं है। मैं तो उद्योग के द्वारा विद्यार्थियों को सभी विषयों का ज्ञान कराना चाहता हूँ। मेरी योजना में इतिहास, भूगोल, गणित, विज्ञान, भाषा, चित्रकला, संगीत आदि सबका समावेश होता है। लेकिन मेरी शर्त यह है कि इन सबका ज्ञान कोरा किताबी ज्ञान न होना चाहिए। ज्ञान जीवन-व्यापी होगा और वह उद्योगों द्वारा हासिल किया जायगा। और यह सारा काम हमें एक निश्चित पाठ्यक्रम के अनुसार करना होगा।

डॉक्टर भागवत ने नौ घंटे की बात सुझाई है। मैं इसे नहीं मानता; क्योंकि मैं बालकों पर अत्याचार करना नहीं चाहता। मैं तो आपसे सिर्फ़ पाँच घंटे चाहता हूँ। मुझे यक़ीन है कि अगर मदरसों में लड़कों ने कुछ हुनर सीखा, तो वे घर पर भी उसका अभ्यास ज़रूर करेंगे, और अपनी योग्यता बढ़ाने के यत्न में रहेंगे। अगर सात साल का सलंग हिसाब लगाया जाय, तो मेरे विचार में शिक्षा अवश्य स्वावलंबी हो सकती है। पहले साल में हरएक विद्यार्थी रोज़ के **दो पैसे** भी कमा ले, तो दूसरे साल **एक आना** कमायेगा। यों हर साल उसकी उपार्जन शक्ति बढ़ती ही जायगी। आगे चलकर लड़के अपने घर पर भी मेहनत करेंगे और अपने सीखे हुए धन्धे को तरक्क़ी पर पहुँचायेंगे।

गाँवों में खेती-किसानी को इस शिक्षा का माध्यम बनाने की बात कही गई है। लेकिन शर्म इस बात की है कि आज इसका कोई सामान हमारे पास मौजूद नहीं। एग्री-कल्चर या कृषि के विद्यालयों और कॉलेजों में लड़कों को जो तालीम दी जाती है, वह गाँव-वालों के किसी काम की नहीं होती। कृषि-कॉलेजों से निकले हुए हमारे नौजवान ग्रेजुएट गाँवों में बैठकर कोई उपयोगी काम नहीं कर सकते। ऐसे तीन ग्रेजुएट तो मेरे पास ही रहते हैं, और उनमें से दो शायद यहाँ बैठे भी हैं। आज इस काम में वे मेरी कोई मदद नहीं कर सकते। इसका यह मतलब नहीं कि वे बिलकुल अयोग्य हैं। अपनी जगह पर तो वे काम करते ही हैं। मगर देहाती काम का उन्हें कोई तजरबा नहीं। वे खुद इस बात को कबूल भी करते हैं। लेकिन इसमें उन बेचारों का क्या कसूर? उन्होंने अपने कॉलेजों में जो कुछ सीखा, गाँव के साथ उसका कोई ताल्लुक ही नहीं था। ऐसी हालत में हम इस चीज़ को तुरत तालीम का ज़रिया कैसे बना सकते हैं?

गाँवों में जाकर हमें बहुत-कुछ काम करना है। और, इस काम में देहाती लड़के हमारी काफ़ी मदद कर सकते हैं। आज भी वे खेतों पर बहुत-कुछ काम तो करते ही हैं। अगर मेरी इस तजवीज़ को आप लोगों ने मान लिया, और इसे गाँवों में चलानेवाले अच्छे उस्ताद हमें मिल गये, तो गाँववालों को बहुत फायदा पहुँचेगा। अपने उस्ताद के साथ लड़के भी खेतों पर जायँगे; वहाँ निंदाई, बुवाई, सिंचाई वग़ैरा में मदद करेंगे; और इस तरह रोज़-रोज़ काफ़ी कसरत भी कर लिया करेंगे। फिर बनावटी कसरत के लिए उन्हें अलग से समय देने की ज़रूरत न रहेगी।

मेरा यह भी ख़याल है कि अगर यह तजवीज़, जैसी कि मैंने रक्खी है, बहुत-कुछ वैसी ही चली, तो पहले साल में जरूर कुछ नुकसान रहेगा, लेकिन तीसरे साल तो एक कौड़ी का भी नुकसान न रहना चाहिए। यह बात मैं अपने तजरबे से कहता हूँ। अभी जाकिर साहब ने कहा कि यह चीज स्वावलम्बी नहीं हो सकती, और इसके कारण लड़कों में गुलामी फैलने का ख़तरा है। मेरा जवाब यह है कि गुलामी की कोई गुंजाइश इसमें नहीं हो सकती। हाँ, अगर उस्ताद और इन्स्पेक्टर वग़ैरा सब के सब निकम्मे मिलें, तो बात दूसरी है। इसके लिए हमारे मंत्रियों को खूब सजग रहना होगा और ऊपर से नीचे तक सबको सजग रखना होगा।

मगर फिर भी मैं कहता हूँ कि आप मेरे दबाव में आ कर कभी इसे मंजूर न करें। यह ठीक न होगा। आप देखते हैं कि मैं इस समय मृत्यु-शय्या पर पड़ा हुआ हूँ। ऐसे समय, मैं ज़बर्दस्ती से कोई चीज़ मनवाना नहीं चाहता। आप इसे अच्छी तरह सोच-समझ लीजिये और फिर चाहे मंजूर कीजिये, चाहे नामंजूर ! यह न हो कि अभी आप इसे मंजूर कर लें और फिर कुछ वक्त के बाद छोड़ बैठें।

मुद्दत के बारे में मेरा कोई आग्रह नहीं है। इसे आप चाहें ७ साल की रखिये, और ज़रूरी समझें तो ९ साल कर दीजिये। यह हमारे हाथ की बात है और इसमें कोई ख़ास ख़तरा भी नहीं है।

प्रोफेसर शाह की एक बात को मैं बिलकुल सही मानता हूँ और मंजूर करता हूँ। उन्होंने कहा है कि हरएक सरकार का यह फर्ज़ होना चाहिए कि वह अपने बेकारों को काम दे और रोटी दे। लेकिन इसका यह मतलब नहीं, कि बेकारों को 'डोल' dole दिया जाय, यानी घर बैठे खिलाया जाय। हम किसीको दान नहीं दे सकते; न देना हमारा फर्ज़ है। हाँ, काम देने का ज़िम्मा हमारा है। ईश्वर ने किसी को बैठे-बैठे खाने के लिए पैदा नहीं किया। उसने तो पैदा इसलिए किया है कि हम अपनी मेहनत की रोटी कमायें और खायें।

और, काम की हमारे देश में कमी न होनी चाहिए। जब ३० करोड़ ज़िन्दा मशीनें हमारे पास मौजूद हैं, तो बेजान मशीनों का, यानी यंत्रों का, हम क्यों सहारा लें ? मैं कहता हूँ, हम में से हरएक को रोज़ आठ घण्टे काम करना चाहिए। काम करने से कोई गुलाम नहीं बनता। जिस तरह घरों में मा-बाप का बताया काम करने से हम उनके गुलाम नहीं बन जाते, उसी तरह यहाँ भी गुलामी का कोई सवाल न उठना चाहिए। लेकिन अगर मशीनरी की ही बात सबको मंजूर हो, तो मेरा निवेदन है कि मैं मजबूर हूँ। क्योंकि उसके लायक कोई तजवीज़ मेरे पास नहीं है।

अब आप **विनोबा** और **काका साहब** के विचार भी सुन लीजिये।

: २ :

फिर सभापतिजी की आज्ञा से नालवाड़ी-आश्रम, वर्धा के आचार्य श्री. विनोबा भावे ने गांधीजी की योजना का हार्दिक समर्थन करते हुए उसकी व्याख्या में नीचे लिखा विस्तृत भाषण किया :

अभी मैं देर से आया और बापू ने जो कुछ कहा सो सुन नहीं सका। लेकिन सुबह जितनी बातें हुई हैं, उन पर से और इस विषय में मेरे जो कुछ विचार और अनुभव हैं, उनके आधार से दो शब्द आपके सामने कहूँगा।

जब मैंने पहली बार 'हरिजन' में पढ़ा कि हरएक गाँव में हम लड़कों को उद्योग के ज़रिये शिक्षा देना चाहते हैं, तो मुझे इस चीज़ के समझने के लिए दुबारा पढ़ना नहीं पड़ा। कारण, पिछले कई वर्षों से मैं इस विषय पर देहातवालों की दृष्टि से विचार और प्रयोग कर रहा हूँ। 'हरिजन' में जो विचार प्रकट हुए हैं, उनमें मुझे अपने इन प्रयोगों का परिणाम मिल गया है। मैं तो मानता हूँ कि जैसे-जैसे हम इसका अनुभव करते जायँगे, वैसे-वैसे यह चीज़ हमें ज्यादा साफ़ दिखाई देगी।

आज सुबह चन्द भाइयों ने कहा था कि बापूजी जो कह रहे हैं, वह कोई नई चीज़ नहीं है। इससे पहले भी कई शिक्षा-शास्त्री इस विषय पर लिखे चुके हैं। इसलिए कोई वजह नहीं कि इसके बारे में किसी की दो राय हों। लेकिन जहाँ तक मैं समझ सका हूँ, मेरा ऐसा ख़याल है कि यद्यपि बापू के और उनके विचारों में शाब्दिक समानता दीख पड़ती है, तोभी जब हम उनके अर्थ पर ध्यान देते हैं, उन विचारों की तह तक पहुँचते हैं, तो काफ़ी फ़र्क मालूम होता है—हो सकता है।

असलियत यह है कि आज दुनिया के ज्यादातर दुःख शरीर-परिश्रम को छोड़ देने से पैदा हुए हैं। अगर हम इस सिद्धान्त पर नहीं पहुँचते हैं, तो मुझे डर है कि बापू ने जो योजना हमारे सामने रक्खी है, उससे कुछ अंशों में सहमत होते हुए भी हम पूरे सहमत नहीं हो सकेंगे। आज हम लोगों में बहुतेरे ऐसे हैं, जो खुद तो शरीर-परिश्रम छोड़े बैठे हैं, मगर दूसरों के परिश्रम से लाभ उठाते हैं। ग़रीब लोग मेहनत करते हैं और हम उनकी मेहनत का फल चखते हैं। जब कभी हम इस पर कुछ सोचते भी हैं,

तो यह ख़याल रखकर सोचते हैं कि किसी न किसी तरह हमें, यानी इन्सान को, मेहनत से बचना है। कहते तो हैं कि हाथ की तालीम ज़रूरी है, क्योंकि उससे लड़कों के हाथों और पैरों में ताक़त आयेगी, और इसीलिए पाठशालाओं में हाथ का कुछ न कुछ काम रखना भी चाहते हैं। लेकिन कहने का मतलब सिर्फ़ यह होता है कि कुछ अंशों में, बतौर सजावट के, उद्योग को भी थोड़ा स्थान दिया जाय। जिन-जिनके नाम आज सुबह लिये गये और जिन्होंने यह बताया कि हाथ के काम से दिमाग़ आगे बढ़ता है, उनके प्रयोगों से भी यही मालूम होता है कि उन्होंने महज़ सजावट के तौर पर अपने कार्य-क्रम में परिश्रम या मेहनत को जगह दी थी। लेकिन हमारा लक्ष्य वह नहीं है।

कहा जाता है कि पश्चिमवालों ने शिक्षा में काफ़ी उन्नति की है। लेकिन उनका उदाहरण हमारे लिए विशेष उपयोगी नहीं हो सकता। बहुत ज़्यादा मुल्कों पर आज वे अपनी हुकूमत जमाये हुए हैं। अपनी इस शिक्षा के कारण ही उन्होंने दुनिया में यह गुलामी फैलाई है। इसलिए उनकी शिक्षा-प्रणाली हमारे देहात में नहीं चल सकती। अगर देहात के लड़कों को ७ साल तक तालीम देनी ही है, और सो भी लाज़िमी तौर पर, तो बिना स्वावलम्बन के हम उसे दे ही नहीं सकते।

स्वावलम्बी शिक्षा से मेरा मतलब यह है कि तालीम पा चुकने के बाद बालक अपने पैरों पर खड़ा होने लायक बन जाय। यह तो अनुभव से सिद्ध होगा, कि वह अपनी पढ़ाई का पूरा ख़र्च हर साल दे सकेगा या सात साल में मिलकर देगा। यद्यपि इसमें भी मुझे तो कोई सन्देह नहीं है। लेकिन अगर तालीम पा चुकने के बाद लड़का स्वावलम्बी नहीं होता है; तो मेरी समझ में नहीं आता कि तालीम देकर हमने क्या किया? क्योंकि तालीम पाने से पहले भी तो वह परावलम्बी ही था। इसीलिए अपने देहात में हम वही तालीम दे सकेंगे, जो लड़कों को स्वावलम्बी बनाये।

जब जापान में लाज़िमी तालीम (अनिवार्य शिक्षा) ज़ारी की गई, तो वहाँ ग़रीब लड़कों को अपवाद समझ कर छोड़ देना पड़ा। क्योंकि ये लड़के अपने माँ-बाप की कमाई में सहायता पहुँचाते थे, और इसीलिए तालीम में शामिल नहीं हो सकते थे। लेकिन ऐसे अपवाद वहाँ १०० में सिर्फ़ १० ही थे। अगर हम अपने देश में ग़रीब लड़कों को लाज़िमी तालीम से बरी करना चाहें, तो उसका मतलब यह होगा कि हमने

१०० में ९० लड़कों की तालीम का सवाल छोड़ दिया। इसलिए अगर हमें देहात में लाज़िमी तालीम देनी ही है, तो हमारे मदरसे ऐसे होने चाहिएँ, जहाँ लड़कों को कोई उद्योग सिखाया जाता हो और उससे वे घरवालों की कमाई में थोड़ी मदद पहुँचा सकते हों। फिर तो उद्योग के साथ-साथ और उसीके ज़रिये हम उनको दूसरी तालीम भी दे सकते हैं। मैं तो कहता हूँ कि हम इस तालीम शब्द का भी इतना मोह क्यों रक्खें ! तालीम तो वैसे भी मिलने ही वाली है। अगर कोई लड़का ईमानदारी से अपनी रोज़ी कमाता है, तो क्या वह तालीम नहीं है ? फिर इसमें तो लड़के हमारे साथ रहेंगे, हम उनके साथ रहेंगे; और यों अपनी सोहबत से भी हम उनको काफ़ी तालीम दे सकेंगे। आज जब हम गाँवों में जाते हैं, तो वहाँ हमारी बात सुनने के लिए हमें अकसर ऐसे ही आदमी मिलते हैं, जिन्हें मज़दूरी की या किसी धन्धे की कोई फ़िक्र नहीं होती। और जिन तक हम पहुँचना चाहते हैं, उनके तो दर्शन भी नहीं कर पाते। जिस गुफ़ा में सूर्य की करणें पहुँच ही नहीं सकतीं, कोई उसका अँधेरा कैसे मिटाये ? अतएव जिन तक हम पहुँचना चाहते हैं और जिनको कुछ तालीम देना चाहते हैं, वे हमारे पास तभी आयेंगे, तभी हमें मिल सकेंगे, जब हम अपनी पाठशालाओं में उद्योग शुरू करेंगे।

नालवाड़ी (वर्धा) में मेरे पास कुछ लड़के सूत कातने आते हैं। उनमें दो-चार ऐसे हैं, जो दूसरे गाँवों से, यानी नालवाड़ी से चार मील दूर से, आते हैं। ठीक ७ बजे उनका काम शुरू होता है। समय पर आ पहुँचने के लिए उन्हें सुबह जल्दी उठना पड़ता है। फिर उनके लिए रोटी बनाने को उनकी माँ भी चार बजे उठती है। सुबह ७ से ११ और दुपहर में १ से ५ तक वे कातते हैं। हम लोग भी उनके साथ कातते हैं। उनसे बातें करते हैं, और इस तरह मैं देखता हूँ कि उन्हें काफ़ी शिक्षा मिल जाती है। लेकिन अगर मैं यह ऐलान कर दूँ कि मैं तो सिर्फ़ पढ़ाना चाहता हूँ, और उसीके लिए यह एक पाठशाला खोल दी है, जिसमें न कोई उद्योग सिखाया जाता है, न किसी प्रकार की मज़दूरी मिलती है, तो मैं जानता हूँ कि ४ मील से तो क्या, अपने गाँव से भी, जहाँ मैं बैठा हूँ, ग़रीब का कोई लड़का शायद ही मेरे पास आये ! अगर किसी का यह ख़याल है कि हुकूमत के बलपर शिक्षा को क़ानूनन लाज़िमी बना देने से सरकारी मदरसों में ग़रीबों के लड़के भी आने लगेंगे, तो मैं इससे क़तई इनकार करता हूँ। हमने देखा है कि देहातियों के साथ सीधे उनके जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली बातों को छोड़कर, जब दूसरी बातें हम करते हैं, तो वे भौंचक-से हमारा मुँह

ताकते रहते हैं : खाक-पत्थर कुछ भी समझ नहीं पाते। मगर उनके जीवन की कई बातों को लेकर हम उन्हें उपयोगी तालीम दे सकते हैं। उदाहरण के लिए, वे ठीक-ठीक बैठना भी नहीं जानते। सौ में शायद एक भी लड़का हमें सीधा बैठा हुआ नहीं मिलता। मास्टर साहब हैं कि कुर्सी पर बैठे किताबों की मदद से पढ़ाते रहते हैं। सिवा सुनने के लड़कों को कुछ भी करना नहीं पड़ता। अतएव कइयों को तो नींद आने लगती है। लेकिन लड़कों की क्या कही, मैंने तो देखा है कि खुद मास्टर भी कभी-कभी ऊँघने लगते हैं। मेरा यह भी अनुभव है कि जब लड़के मदरसे से घर पानी पीने जाते हैं, तो दो-दो घण्टों तक वापस नहीं आते, बशर्ते कि उन्हें सज़ा का डर न हो! जहाँ ऐसा डर रहता है, वहाँ एकाध घण्टे के अन्दर ही आ जाते हैं। हालत यह है कि आज जब कोई लड़का स्कूल से गैर हाजिर रहता है, तो शिक्षक उसे घर पर बुलाने जाता है; मगर घरवाले कह देते हैं कि लड़का ज़रा बीमार है, इसलिए वह मदरसे नहीं आयेगा। लेकिन लड़के की इस बीमारी का मतलब सिर्फ़ यही होता है कि उसके माँ-बाप उसे अपने साथ खेत पर ले जाना चाहते हैं, और मदरसे भेजने से कतराते हैं।

मैं मानता हूँ कि पाठशालाओं में उद्योग शुरू कर देने से यह हालत न रहेगी। अगर हमारी पाठशालाओं में लड़कों को कमाने-धमाने की विद्या सिखलाई जायगी, तो माँ-बाप खुशी-खुशी अपने लड़कों को स्कूल में भेजेंगे। बड़ी उमर के लड़के भी हमारे पास आयेंगे। और अगर लड़के स्कूल में कमाई करके कुछ घर ले जा सके, तो ७ साल ही क्यों, इससे भी ज़्यादा वक्त तक वे हमारे पास रहेंगे। इस तरह शिक्षक और छात्र का सम्बन्ध महज़ सात साल के लिए ही नहीं, बल्कि ज़िन्दगी भर के लिए मजबूत हो जायगा। एक और महत्त्व की बात यह है कि आज हमारे शिक्षकों और छात्रों में बड़ा अन्तर रहता है; दोनों की भूमिका समान नहीं होती। शिक्षक कुर्सी पर बैठते हैं, और विद्यार्थी नीचे ज़मीन पर बैठते हैं, जहाँ शायद झाड़ू भी नहीं लगाई जाती! वजह यह है कि झाड़ू लगाना हलका काम समझा जाता है। आज की हवा में तो कोई सोच भी नहीं सकता कि मास्टर अपने हाथों झाड़ू लगायें। लेकिन जब पाठशाला में उद्योग को स्थान मिल जायगा, तो शिक्षक को कुर्सी छोड़कर विद्यार्थियों के साथ बैठना होगा : खुद काम करके उन्हें सिखलाना होगा; जिससे दोनों की भूमिका समान हो जायगी, और दोनों की बुद्धि भी तेजस्वी बनेगी।

दूसरी बात मुबह हमने यह सुनी की अगर लड़कों की कमाई में से शिक्षक की तनख्वाह निकालने की दृष्टि रही, तो नतीजा यह होगा कि छात्रों से ज्यादा माल तैयार कराने की चिन्ता में शिक्षक उनसे ज़बरदस्ती ज्यादा मज़दूरी करायेंगे। लेकिन मुझे इस तरह का कोई डर नहीं मालूम होता। स्कूलों में उद्योग शुरू होते ही गाँववाले उनमें दिलचस्पी लेने लगेंगे। तब वे आज की तरह उदासीन न रहेंगे। आज तो छः माही या सालाना परीक्षा का फल मालूम होने पर ही उन्हें पता चलता है कि उनके लड़कों ने क्या पढ़ा, कैसे पढ़ा और उन्होंने कुछ तरक्की की या नहीं। अगर लड़का फेल हुआ है, तो वे समझते हैं कि उनके लड़के को अच्छी तालीम नहीं मिली। लेकिन जब लड़का उद्योग द्वारा मज़दूरी के रूप में कुछ कमाने लगेगा, तो गाँववालों को रोज़ाना मालूम होता रहेगा कि लड़के ने कैसी क्या तरक्की की है। उनको यह भी पता रहेगा कि क्या शिक्षक सख्ती से काम लेता है, या प्रेम से! मतलब में, सारा गाँव उस स्कूल का इन्स्पेक्टर बन जायगा। आज जिस तरह का इन्सपेक्शन होता है, वह कोई मानी नहीं रखता। जिस दिन इन्स्पेक्टर स्कूल देखने आता है, उस दिन भी स्कूल में कोई सफ़ाई नहीं पाई जाती। लेकिन इन बातों की तरफ़ इन्स्पेक्टर का ध्यान नहीं रहता। वह तो सीधा आकर स्कूल में चला जाता है, और कुछ मामूली-सी बातें देखकर लौट जाता है। यह तो उस स्कूल की हालत है, जिसका इन्स्पेक्शन होता रहता है। लेकिन ऐसे भी कई स्कूल होते हैं, जहाँ इन्स्पेक्टर कभी पहुँचता ही नहीं। हमारी नई पाठशालाओं का इन्स्पेक्शन तो खुद गाँववाले ही करेंगे। उन्हें उसमें दिलचस्पी होगी, और इस तरह गाँव का और स्कूल का सम्बन्ध घना हो जायगा। शिक्षक भी गाँववालों की सहायता करेगा। लड़के स्वयं-सेवक बनकर गाँव के सुधार में मददगार होंगे। अगर गाँव में हैज़े वग़ैरा की शिकायत फैली, तो शिक्षक घर-घर जाकर लोगों की सेवा करेगा। इस प्रकार वह अपने गाँव का सेवक ही नहीं, मुखिया भी बन जायगा।

अगर शिक्षक सुयोग्य है, और इस योजना में श्रद्धा रखता है, तो इस चीज़ को हम जिस क़दर मुश्किल मानते हैं, उतनी मुश्किल यह न रह जायगी। अतः सरकार का काम है कि वह इस तरह के शिक्षक तैयार करे, और उन पर जितना ज़रूरी हो, ख़र्च भी करे।

उद्योग द्वारा तालीम देने के लिए हमें नई पाठ्य पुस्तकें भी तैयार करनी होंगी। मौजूदा किताबों से हमारा काम न चलेगा। पहले, दूसरे, तीसरे, यों प्रत्येक साल के हिसाब

से उद्योग और पढ़ाई का वर्गीकरण करके सारा पाठ्यक्रम तैयार करना होगा। अर्थात् देहात वालों की दृष्टि से विचार करके हमें एक ऐसे स्वतंत्र और सजीव साहित्य की रचना करनी होगी, जिसके आधार पर हम गाँवों में सही तालीम दे सकें। आज जैसी तालीम दी जाती है, वैसी अपने सब गाँवों में हम नहीं दे सकेंगे; और अगर दे भी सके, तो उससे मुझे आनन्द नहीं, दुःख ही होगा। क्योंकि जब इस निकम्मी तालीम के इतने अल्प प्रचार से हमारी इतनी भीषण हानि हुई है, तो इसके सर्वव्यापी प्रचार से जो भयंकर हानि होगी, उसका हिसाब मैं त्रैराशिक से लगाकर देखूँगा !

मैं मानता हूँ कि गाँवों तक जिस तालीम को हमें पहुँचाना है, वह स्वावलम्बी ही होनी चाहिए। और उद्योग को केन्द्र में रखकर ही हम उसे स्वावलम्बी बना सकते हैं। इसलिए बापू की इस नई योजना में मुझे तो ज़रा भी ख़तरा नहीं मालूम होता, उलटे मैं अपने अन्दर काफ़ी उत्साह का अनुभव कर रहा हूँ। और, मुझे यक़ीन है कि अगर हम सच्चे दिल से इसे अमली रूप देने की कोशिश करेंगे, तो ज़रूर कामयाब होंगे !

: ३ :

आपके बाद मारवाड़ी शिक्षा-मंडल की रजत-जयन्ती के सभापति आचार्य श्री **प्रफुल्लचन्द्र राय** ने योजना का समर्थन करते हुए नीचे लिखा भाषण दिया :

मैं समझता हूँ कि **महात्माजी** की यह योजना बहुत ही उपयोगी है, और इस समय देश को ऐसी ही शिक्षा की आवश्यकता है। लेकिन इसको सफल बनाने के लिए हमें आदर्श शिक्षकों की आवश्यकता होगी। ऐसे शिक्षकों की, जो शिक्षा से प्रेम रखते हों, त्यागी हों, सेवापरायण हों, और इतने निःस्पृह हों कि चन्दन और विष्ठा को समान समझ सकें। ऐसे एक शिक्षक और सेवक का नाम मैं आपके सामने रख सकता हूँ— और वह नाम है, खादी-प्रतिष्ठान, सोदपुर के संचालक और संस्थापक **श्री सतीशचन्द्र-दास गुप्त** का ! सतीशबाबू ने अपनी इच्छा से ग़रीबी का व्रत लिया है, और कुलीन

होते हुए भी आज वह चमार, भंगी, और झाड़ूदार, सबका काम करते हैं। उनके पास उच्च जाति के ब्राह्मण नवयुवक भी चमड़ा कमाने का काम सीख रहे हैं। उत्कल के नेता श्री **गोपबन्धु चौधरी** के सुपुत्र उन्हींके पास आज शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं।

देश की स्थिति को सुधारने के लिए आज हमें ऐसे ही शिक्षकों और शिक्षार्थियों की आवश्यकता है। स्कूलों और कॉलेजों की डिग्रियाँ तो आजकल नौकरी की पर्यायवाची बन गई हैं। एम० एससी० और पी० एचडी० की उपाधियाँ प्राप्त करने के बाद भी हमारे नवयुवक आज बेकार घूम रहे हैं; उनकी विद्या का कोई उपयोग नहीं हो रहा। फिर भी वे उपाधियों का मोह छोड़ नहीं सकते; क्योंकि अभी तक उनका ख़याल है कि उपाधियों से उनका 'कैरियर' बनता है! लेकिन वे नहीं सोचते कि कितना ग़लत उनका यह ख़याल है। राम्से मैकडोनल्ड ने, जो बाद में इंग्लैण्ड के प्रधान-मंत्री बने, किस विश्वविद्यालय की डिग्री पाई थी? बेचारे कोयले की खानों में काम करते थे। रूस का अधिनायक स्टालिन मोची का काम करता था। जर्मनी के तानाशाह हिटलर ने कभी किसी युनिवर्सिटी की दहलीज पर क़दम नहीं रक्खा। बेचारा कचरा ढोया करता था। इस तरह दुनिया के बड़े-से-बड़े आदमी सब ग़रीबी से निकल कर, अपने पुरुषार्थ और अपनी मेहनत से आगे बढ़े हैं। लेकिन हमारे नौजवान आज मेहनत-मज़दूरी से दिल चुराते हैं; काम को वे अपनी शान से हलका समझते हैं। अधिकतर माता-पिता भी इन्हीं विचारों के हैं। यही वजह है कि हमारे एक स्कूल में, जहाँ खेती और बाग़वानी का प्रबन्ध है, सारा काम मज़दूरों से कराना पड़ता है और १००) ख़र्च करने पर मुश्किल से २०) की आमदनी होती है। हमारे नवयुवकों की इस सुकुमारता का परिणाम उनके स्वास्थ्य पर भी हो रहा है। उनमें तपेदिक की बीमारी जंगल की आग की तरह बढ़ रही है। बेकारी अलग से सवार है। पेट कैसे पाला जाय, यह भी एक विकट समस्या है!

इन सबका हल मुझे तो यही मालूम देता है कि हम लोग गाँवों की तरफ़ ध्यान दें, परिश्रम को अपने जीवन का अंग बनायें, मातृभाषा द्वारा सारी शिक्षा लें, और **महात्माजी** की योजना को सफल बनाकर देश में नई जागृति, नया बल पैदा करें।

: ४ :

फिर सभापतिजी की आज्ञा से गुजरात विद्यापीठ के भूतपूर्व आचार्य श्री दत्तात्रेय बालकृष्ण कालेलकर ने मूल योजना के समर्थन और उसकी व्याख्या में नीचे लिखे विचार प्रकट किये :

मैं सन् १९०७ से राष्ट्रीय शिक्षा पर विचार करता आया हूँ और तभी से मेरे प्रयोग भी जारी हैं। मैंने अपने विचारों और सिद्धान्त में जो प्रगति की है, सो भिन्न-भिन्न प्रयोगों के अनुभव ही से की है; और इसीलिए वह धीमी हुई है।

शुरू में हमारा यही खयाल था कि राष्ट्रीय शिक्षा द्वारा हमें केवल क्रान्तिकारी पैदा करने हैं। बाद में देखा कि जब सारा देश राष्ट्रभक्त हो जायगा तभी उसमें से कुछ क्रान्तिकारी तैयार हो सकेंगे। इसलिए पहले राष्ट्रीय शिक्षा द्वारा देश-भक्त तैयार करने की आवश्यकता मालूम हुई। बाद में अनुभव ने यह बताया कि राष्ट्र की संस्कृति के अध्ययन ही से शुद्ध राष्ट्र-भक्ति पैदा हो सकती है। पहले तो केवल राष्ट्रीय साहित्य पर ही हमारा विश्वास रहा, बाद में युवकों के सर्वांगीण विकास का महत्त्व हम लोग क्रमशः समझने लगे। इस तरह राष्ट्रीय शिक्षा का विचार व्यापक और गहरा होता गया।

सरकार और राष्ट्रीय-शिक्षा के आपसी अनमेल के कारण जब सरकारी नौकरी, वकालत, डाक्टरी, इंजीनियरिंग, आदि के क्षेत्र हमारे लिए न रहे, तब हम समझने लगे कि साहित्यिक शिक्षा का असली मूल्य क्या और कितना है। तोभी देश में औद्योगिक शिक्षा की जो बातें चल रही थीं, उनकी तरफ़ हमारा आकर्षण नहीं था, क्योंकि हमने यह देखा कि औद्योगिक शिक्षा पानेवाले लोगों में न तो संस्कारिता दीख पड़ती थी, न देश-भक्ति। तो भी हमने महसूस किया कि केवल शाब्दिक ज्ञान से न बुद्धि का ही सच्चा विकास होता है, न सूझ-बूझ-ही बढ़ती है। मैंने तो यह भी देखा कि केवल तर्क और वाद करने वाले प्रोफेसर और वकील महत्त्व के विषयों पर शुद्ध और कुशल निर्णय नहीं दे सकते; बल्कि वे अपने ही तर्क-जाल में फँस जाते हैं। जो लोग असली और अमली काम करते हैं, वही विचार-शुद्धि पाते हैं; और शुद्ध निर्णय कर या दे सकते हैं।

अनुभव से हम इस नतीजे पर पहुँचे कि हाथ-पैर की शिक्षा ही प्रधान रूप से दी जानी चाहिए।

दिल और दिमाग़ के विकास के लिए हम लोगों ने आज तक ज़बान और कान का उपयोग अधिक किया। आँखों का उपयोग भी निरीक्षण की अपेक्षा पठन-पाठन करने में ही अधिक किया। अब खयाल हो गया है, कि आँखों से मुख्यतः निरीक्षण और परीक्षण होना चाहिए; और शिक्षा का साधन प्रधानतया हाथ-पैर का काम। जब हाथ-पैर से परिश्रम होगा और प्रयोगों द्वारा समाज-हितकारी उद्योगों का रहस्य हस्तगत किया जायेगा, तभी मस्तिष्क का और हृदय का सच्चा विकास हो सकेगा।

जब कभी मेरे शिक्षक भाई कहते हैं, कि बौद्धिक शिक्षा के साथ-साथ औद्योगिक शिक्षा भी देनी चाहिए, तब मुझे आश्चर्य और दुःख, दोनों होते हैं। उनकी राय में मानों औद्योगिक शिक्षा में बौद्धिक शिक्षा है ही नहीं! सच पूछा जाय तो उद्योग के द्वारा ही उत्तम बौद्धिक शिक्षा दी जा सकती है। मैं तो हमेशा कहता हूँ कि बौद्धिक शिक्षा के दो साधन हैं : औद्योगिक शिक्षा और किताबी शिक्षा। बौद्धिक शिक्षा का उत्तम साधन औद्योगिक या प्रायोगिक शिक्षा ही है। उसीका कुछ परिष्कार करने के लिए और उसे शब्द-बद्ध करके उसका संग्रह करने की दृष्टि से, किताबी शिक्षा की आवश्यकता है सही। व्यापक प्राथमिक शिक्षा की दृष्टि को ध्यान में रख कर ही मैं यह कह रहा हूँ। हमारे ऋषि-मुनियों ने सच ही कहा है कि-" बुद्धिः कर्मानुसारिणी "।

इस तरह उद्योग का महत्त्व तो हमारे ध्यान में आया, किन्तु पाठ्य-क्रम में उसको कितना स्थान दिया जाय, इसका कोई निश्चय हम अपने मन में नहीं कर सके। सिर्फ़ " व्होकेशन बायस् " के ऊपर मेरा कभी विश्वास था ही नहीं। शिक्षा तो किताबी ही रहे, और उसमें उद्योगों का थोड़ा-सा नाम आवे, और उनका कुछ महत्त्व गाया जाये, इससे हमें सन्तोष कैसे हो सकता है? उद्योग का मतलब उद्योग ही है! अर्थात्, कुछ घंटों के लिए पूरी तरह इस उद्योग का ही अनुशीलन होना चाहिए। मन में इस बात का निश्चय होते हुए भी हमने अबतक इसे पूरा समय नहीं दिया था। शुरू में हमने उद्योग के लिए सिर्फ़ एक घंटा दिया। मगर उससे काम न चला। फिर समय बढ़ाया और विद्यापीठ में उद्योग और पुस्तकों को बराबर-बराबर समय दिया; तो भी हमें यह विश्वास न हो

सका कि उद्योग के द्वारा बुद्धि का विकास हो सकता है। अतएव "बौद्धिक शिक्षा बनाम औद्योगिक शिक्षा" का ही वातावरण अबतक ज़ारी रहा।

आजकल की शिक्षा, शिक्षा है ही नहीं; इससे न विद्यार्थियों को लाभ है, न शिक्षकों को। बल्कि दोनों ही घाटे में रहते हैं। किसी ने विद्यार्थियों को उपदेश देते हुए सच ही कहा था कि Never allow your studies to interfere with your education. एक दूसरे समाज-सेवक ने कहा है: You must rescue education from the four walls of the school room. किन्तु मैं तो अब इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि सच्ची शिक्षा को 'शिक्षा' के नाम से भी बचाना होगा। तब कहीं वह अपना शुभ परिणाम दिखा सकेगी।

हम देखते हैं कि जबतक हम शिक्षा का नाम लेते हैं, तबतक शिक्षक, विद्यार्थी, मा-बाप और समाज, सबके मन में वही पुरानी निश्चित आकांक्षा रह जाती है। और, लोग उसी पुरानी लीक या धारा में बहने लगते हैं। मैंने सोचा है कि अगर मैं कोई नई शिक्षा-संस्था खोलूँ, तो उसे इन पुरानी आकांक्षाओं से बचाने के लिए उसके दरवाज़े पर मैं बड़े-बड़े अक्षरों में लिख दूँगा: "यह कोई शिक्षा-संस्था नहीं है। यहाँ तो केवल मज़दूरी ही की जाती है।" इसे शुरू में कोई चाहे 'चाइल्ड-लेबर' की संस्था भले माने; मगर बाद में केवल मज़दूरी के लिए आये हुए ऐसे बच्चों को शिक्षा की दृष्टि से उद्योग की तालीम दी जाय। संस्कार की शिक्षा तो प्रवीण और चारित्र्यशील कारीगर-शिक्षकों के सहवास द्वारा और संस्था की विविध प्रवृत्तियों द्वारा बिना किसी नाम या 'लेबल' के दी जानी चाहिए।

आज तक मैंने शिक्षा का जो भी कुछ कार्य किया है, वह शहरों ही में किया है। साहित्य और कला की बातें करके शहरी लोगों की काफ़ी खुशामद की है। अपने विद्यार्थियों के सम्पर्क से और उनके कार्य से मैं पुनीत और धन्य हुआ हूँ। तो भी मेरा अनुभव यह है कि जबतक हम देहात में जाकर वहाँ वालों की सेवा नहीं करेंगे, और उन्हें शिक्षा नहीं देंगे, तबतक देश का उद्धार नहीं होगा। आख़िरकार स्वराज्य की शक्ति तो हमें ग्रामीण जनता से ही प्राप्त होगी। हमारी संस्कृति की बुनियाद वहीं है। किन्तु मैं अभी तक देहात में जा नहीं सका हूँ।

आशंका प्रकट की जाती है, कि औद्योगिक शिक्षा के कारण, और खासकर उसे स्वावलम्बी बनाने के प्रयत्न के कारण, बालकों से ज़बर्दस्ती काम लिया जायगा और उससे गुलामी पैदा होगी। मुझे तो ऐसा कोई डर नहीं है। क्योंकि हमारे शिक्षक जबतक स्वयं काम नहीं करेंगे, तबतक वे विद्यार्थियों से काम न ले सकेंगे। इन्स्पेक्टर लोग भी इस बारे में सतर्क रहेंगे, और इससे बढ़ कर बात यह है कि पाठशाला में जो कुछ औद्योगिक कार्य किया जायगा, उसका ठीक-ठीक रेकार्ड (हिसाब) रखने से पता चलता रहेगा कि क्या काम ज़बर्दस्ती से या ज्यादा तो नहीं कराया जाता है।

अन्त में मैं तो यह भी कहूँगा कि आलस्य और जड़ता में फँसे हुए हमारे इस देश में मज़दूरी या उद्योग के लिए थोड़ी कड़ाई या सख्ती भी की जाय तो बौद्धिक गुलामी की अपेक्षा वह कहीं बेहतर होगी। परिश्रम-प्रधान गुलामी से उतना नुकसान नहीं होता, जितना केवल रटाई से और बौद्धिक गुलामी से होता है।

प्रोफेसर शाह कहते हैं, कि यंत्र-युग को लाकर ही हम अपने देश का उद्धार कर सकते हैं। मेरा विश्वास इससे बिलकुल उलटा है। मैं हाथ से चलनेवाली छोटी-छोटी मशीनरी के खिलाफ़ नहीं हूँ। हाथ से चलाई जानेवाली मशीनें अथवा यंत्र तो हमें बहुत बढ़ाने होंगे। चर्खा एक ऐसा ही यंत्र है, जिसके द्वारा हम जनता की बुद्धि का विकास करना चाहते हैं। सवाल मशीनों या यंत्रों का नहीं है, बल्कि यह है कि किस यंत्र के पीछे कौन-सी शक्ति हम लगाना चाहते हैं। यंत्रों के साथ मनुष्यों की और मनुष्य के कुटुंबी पशुओं की शक्ति को न लगा कर, यानी उनको बेकार बनाकर, अगर हम प्राकृतिक शक्ति ही से काम लेंगे, तो हमारे यहाँ यंत्र-युग आये बिना न रहेगा।

आज हमारे देश में आधा यंत्र-युग तो आ ही गया है। हम कलों की चीज़ें बनाते तो नहीं, किन्तु खरीदते अवश्य हैं। इसलिए हम एक 'एक्सप्लॉइटेड नेशन' यानी शोषित राष्ट्र हैं। अगर हम कलों द्वारा चीज़ें बनाने लगें, तो हम 'एक्सप्लॉइटिंग नेशन' यानी शोषक राष्ट्र भी बन जायँगे। इस प्रकार अगर पैंतीस करोड़ की आबादी वाला एक संस्कारी और उद्योगी राष्ट्र 'एक्सप्लॉइटिंग' राष्ट्र बन गया, तो एक भगवान् ही उससे दुनिया को बचा सकता है। फिर तो हमें अपनी बनाई हुई चीज़ें दुनिया के सब बाज़ारों में ज़बर्दस्ती से बेचनी होंगी।

आज हमारे देश में इतनी बेकारी है, कि जब तक सब मनुष्यों को और सब पालतू पशुओं को आजीविका के लिए काम नहीं दिया जाता है, तबतक कल-कारखानों से काम लेने का हमें कोई अधिकार नहीं है। सारा का सारा राष्ट्र जब कुशल कारीगर बन जायगा, तब देश में बुद्धि का पूरा-पूरा विकास होगा, और आलस्य, अज्ञान, और अकाल आदि न रह जायँगे।

हमें शिक्षा का विचार अहिंसा की दृष्टि से ही करना चाहिए। मेरे विचार में, हम बिना अहिंसा के कभी शिक्षा दे ही नहीं सकते। हिंसा और शिक्षण परस्पर विरोधी वस्तुयें हैं। मैंने शिक्षा का ध्यान करते हुए ही इस चीज़ को पाया है। शुरू-शुरू तो और शिक्षकों की तरह मैं भी विद्यार्थियों को पशु की भाँति पीटता था। पशु की भाँति से मतलब यह है कि मैं भी पशु बनता था और विद्यार्थियों को भी पशु समझता और बनाता था। ताड़ना में कुछ लाभ अवश्य है, किन्तु नुकसान अधिक और भयावह है। उसमें मनुष्य-द्रोह है और स्वराज्य का तो नाश ही है।

मैंने शिक्षा के अनेक प्रयोग करके देखे हैं। क्रान्तिकारी तो मैं था ही; किन्तु अनेक तरह से समाज-हित का विचार करते हुए जब मेरी नज़र के सामने सिर्फ़ अँधेरा ही अँधेरा रह गया, तब मैं असमंजस में पड़ा कि आगे क्या किया जाय? उस समय मैं शान्ति-निकेतन में था। मेरे सौभाग्य से उन्हीं दिनों गान्धाजी वहाँ आ पहुँचे। आठ दिन तक प्रश्न-पर-प्रश्न पूछ कर मैंने उन्हें बहुत ही परेशान कर डाला। किन्तु परिणाम में मुझे अपना रास्ता मिल गया। अहिंसा का रहस्य मैं समझ सका, और उसीके द्वारा शिक्षा-शास्त्र का रहस्य भी मेरे सामने प्रकाशित हो उठा। मैं मानता हूँ कि जबतक अहिंसा का दर्शन नहीं हुआ है, तबतक शिक्षा का सर्वव्यापी स्वरूप हमारे ध्यान में आयेगा ही नहीं। गान्धीजी की इस नई योजना का रहस्य भी अहिंसा के द्वारा ही पूर्णतया जाना जा सकेगा।

पाठ्य-क्रम के सिलसिले में ७ बरस या चार बरस की बहस काफ़ी चली है। यह स्वाभाविक ही है कि हमारे शिक्षा-मंत्री चार बरस से आगे बढ़ने में संकोच करें। प्राथमिक शिक्षा को मुफ्त और अनिवार्य बनाने के खर्च को अपने सिर उठाने से पहले वे सौ दफ़ा सोचेंगे; किन्तु जब विद्यार्थी पढ़ाई के साथ कुछ कमाता भी रहेगा, तब चार

की जगह सात साल की प्राथमिक शिक्षा रखने से कोई कठिनाई हमारे सामने न आयेगी। मेरे विचार से सम्पूर्ण प्राथमिक शिक्षा के लिए सात वर्ष की अवधि आवश्यक है, और यह एक स्वाभाविक इकाई है।

आजकल लोग चाहते हैं कि अगर लड़का चार ही बरस में मैट्रिक हो जाय, तो अच्छा। किन्तु जब लड़के का जीवन स्वावलम्बी होगा, और आगे के लिए उसे आजीविका की चिन्ता नहीं रहेगी, तब शिक्षा को जल्दी ही खतम करने का उनका उतना आग्रह भी नहीं रहेगा।

अभी श्रीमती सौदामिनी बहन ने मॉंटीसोरी पद्धति का ज़िक्र किया है; मैं उनके साथ सहमत हूँ। तीन या चार बरस से छः बरस तक की शिक्षा न तो शिक्षा-संस्था द्वारा ही दी जाय, न सरकार का वह कर्त्तव्य हो। सरकार के लिए इतना ही काफी होगा, कि वह बाल-शिक्षा का साहित्य प्रकाशित करवाये और मा-बाप को शिशु-शिक्षा का रहस्य सिखाये। शिशु-शिक्षा तो मा-बापों की तरफ़ से ही दी जानी चाहिए। ऐसी शिक्षा दो-चार परिवारों के बालक एक साथ मिलकर भी ले सकते हैं।

किन्तु सार्वजिक और राष्ट्र-व्यापी शिक्षा तो ७ से १४ बरस तक ही दी जानी चाहिए। बालकों का स्वाभाविक विकास १४ बरस के साथ पूर्ण हो जाता है। उनके जीवन में यह एक 'साइकॉलॉजिकल स्टेज' है।

दूसरी कई शक्तियाँ १४ और १६ के बीच ही बालकों में प्रकट होती हैं। इसलिए मैं तो सोलह बरस की आयु तक प्राथमिक-शिक्षा रखने के पक्ष में हूँ। फिलहाल चौदह बरस ही सही। सोलह बरस के लिए आज न तो समाज तैयार है, न सरकार। स्वावलम्बी शिक्षा के अनुभव के बाद ही सोलह बरस का यह प्रस्ताव स्वीकृत हो सकेगा।

व्यापक और सामान्य शिक्षा के बाद ही विशिष्ट शिक्षा का सवाल आता है। किन्तु आज हमें इस उच्च और विशिष्ट शिक्षा का विचार नहीं करना है।

हमारे प्रस्ताव में भाषा का भी ज़िक्र है। इस विषय में तो किसीका भी मतभेद नहीं है कि अंग्रेज़ी हमारी शिक्षा का वाहन यानी माध्यम नहीं हो सकती। किन्तु व्यापक

प्राथमिक शिक्षा में स्वभाषा (प्रान्तीय भाषा) और राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी दोनों का स्थान होना चाहिए। अन्य भाषायें चौदह बरस के बाद सीखी जा सकती हैं।

हमारे कार्य में यदि कोई कठिनाई है, तो वह है कारीगर-शिक्षकों का अभाव! इनको तैयार करने के लिए हमें अध्यापन-मन्दिर खोलने होंगे!

मेरी एक विशेष सूचना और भी है। यह आवश्यक है कि अब अध्यापन-कार्य के लिए हम पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों को ज्यादा पसन्द करें। प्राथमिक-शिक्षा के लिए स्त्रियाँ ही विशेष उपयुक्त होती हैं। उनकी सीधी देख-रेख में रहकर छात्रों के अन्दर कारीगरी का विकास भी आसानी से हो सकेगा। इससे स्त्री-शिक्षा का जटिल सवाल भी बहुत-कुछ आसानी से हल हो जायगा। और, पुरुष शिक्षकों के पास पढ़ने में कन्याओं को जो संकोच-रहता है, वह स्त्री-शिक्षकों के पास नहीं रहेगा। इस तरह आज तक स्त्री-जाति की हमने जो अवहेलना की है, उसका भी कुछ प्रायश्चित्त हो जायगा।

: ९ :

आपके बाद नवभारत विद्यालय, वर्धा के आचार्य श्री आर्यनायकम्‌जी की ओर से उनकी धर्मपत्नी सौ० आशादेवीजी ने नई योजना के प्रति श्रद्धा और नवीन चित्तवृत्ति की आवश्यकता पर ज़ोर देते हुए नीचे लिखा भाषण किया :

आज प्रातःकाल की चर्चा में जिन्होंने भाग लिया था, वे सब अवस्था और अनुभव, दोनों में, मुझसे बड़े हैं। इसलिए अपनी बात कहने से पहले मैं उनसे क्षमा माँग लेती हूँ।

आज सुबह शिक्षा पर जो भी चर्चा हुई, उसकी शाब्दिक भाषा तो हिन्दुस्तानी थी, पर मानसिक भाषा पश्चिमी थी। क्योंकि सुबह जो चर्चा हुई और जो विचार प्रकट किये गये, उनका आधार हमारे वे अनुभव हैं, जो पाश्चात्य शिक्षा से हमें मिले हैं। पिछले १५० वर्षों से पश्चिम की जो शिक्षा हमें मिली है, अर्थात् पश्चिम की शिक्षा-प्रणाली

का जो भी उच्छिष्ट हमने पाया है, उसीका यह असर है कि हम जो कुछ सोचते या विचार करते हैं, उस सबका आधार प्राय: पश्चिम के विचार और पश्चिम ही के अनुभव होते हैं।

सौभाग्य से आज के हमारे अध्यक्ष का पेशा शिक्षा-शास्त्री का पेशा नहीं है। हम अभी-अभी देख चुके हैं कि उन्होंने आधुनिक शिक्षा-जगत् के सबसे बड़े पश्चिमी विद्वान् डेवी का नाम भी आज शायद पहली ही बार सुना है। इसलिए पश्चिम के शिक्षा-जगत् की जो कुछ विशेष भाषा है, उसके अपने जो विचार या मन्तव्य (Concepts) हैं और जो कुछ उपकरण या साधन-सामग्री है, उसके भार से उनका चित्त दबा हुआ नहीं है। अतएव इस प्रश्न के निराकरण के लिए वह एक नवीन चित्त, एक नवीन दृष्टि लेकर हमारे सामने आ सके है। उन्होंने एक नवीन मार्ग हम लोगों को दिखाया है।

आज सुबह हमें बार-बार यह कहा गया है कि बापूजी ने शिक्षा की जो परिकल्पना हमारे सामने रक्खी है, उसमें कुछ नया नहीं है। पर मैं नम्रता-पूर्वक कहूँगी कि उनकी यह चीज़ सम्पूर्णतया नई है।

पश्चिम की शिक्षा-पद्धति में हाथ के काम का जो स्थान है, वह जैसा कि पूज्य विनोबाजी ने कहा है, उस शिक्षा का श्रृंगार-मात्र है। क्या मोण्टीसोरी पद्धति में, क्या योजना-पद्धति में और क्या कॉम्प्लेक्स पद्धति में, सर्वत्र, हाथ के काम का स्थान संस्कार की तरह प्रधान नहीं, गौण है, और मनोरंजन का साधन-मात्र है। वह एक बाह्य अलंकार है, जिसमें शिक्षा के मौलिक आधार और आमूल संस्कार की दिशा में कोई गंभीर प्रयत्न नहीं रहता।

मैं पूछती हूँ, क्या पूर्व में और क्या पश्चिम में, अबतक जो शिक्षा-पद्धतियाँ प्रचलित हैं, उनका मूल-स्वरूप क्या था? मेरे विचार में, शिक्षा आज तक जन-साधारण की चीज़ नहीं थी:शिक्षा तो थी, धनिकों और सम्पन्न लोगों के विलास का साधन। वह जीवन की तैयारी या जीवन की जो मौलिक आवश्यकतायें हैं, उनकी तैयारी नहीं समझी जाती थी। बल्कि वह तो अवसर-यापन की एक कला-मात्र समझी जाती थी। और इसीलिए उसमें साहित्य, संगीत और कला की प्रधानता थी!

शिक्षा की यही परम्परा आजतक पूर्व और पश्चिम में चली आ रही है। इसीलिए साहित्य और कलात्मक शिक्षा-प्रणाली का आजकल इतना प्राधान्य है। आज के हमारे प्रचलित शिक्षण-साहित्य की जो एक ख़ास पुकार है, वह है, फ़ुरसत की शिक्षा, वक्त टालने की तालीम, यानी 'एज्युकेशन फ़ॉर लीज़र'। बापूजी हमें इस पुरानी परम्परा के बन्धन से बाहर निकलना चाहते हैं। बापूजी कहते हैं कि हम एक नवीन मन और जीवन-दृष्टि लेकर शिक्षा की इस समस्या पर विचार करें। वे कहते हैं, कि शिक्षा अवसर-यापन की कला नहीं है; वह तो जीवन की तैयारी है। हमारे जीवन की सबसे बड़ी ज़रूरत अन्न है। इसलिए अन्नोपार्जन की विद्या को वह हमारी शिक्षा प्रणाली में सबसे बड़ा स्थान देना चाहते हैं। हमारी दूसरी ज़रूरत स्वास्थ्य और आरोग्य है; तीसरी स्वच्छता और चौथी शरीरश्रम। इसी कारण मनुष्य-जीवन की इन चार मौलिक आवश्यकताओं को उन्होंने अपनी शिक्षा-पद्धति में स्थान दिया है। इसलिए मेरा निवेदन है कि पहले तो हम पिछले १५० वर्षों की अपनी शिक्षा-धारा को पूरी तरह भूलने की कोशिश करें। और फिर एक नितान्त भार-मुक्त और नवीन चित्त लेकर इस पर विचार करें। मुझे आशा है कि तब हमें वास्तविकता का दर्शन हो सकेगा।

एक बात और है। प्रत्येक देश की जो शिक्षा-प्रणाली है, वह तभी सफल हो सकती है, जब वह अपने देश की सांस्कृतिक धारा से संयुक्त हो। हमारे देश की अपनी जो शिक्षा-पद्धति रही है, जिसका विकास हमारे प्राचीन तपोवनों में हुआ था, उसमें और आज पूज्य बापूजी ने हमारे सामने शिक्षा की जो कल्पना रक्खी है, उसमें बहुत साम्य है। उनकी पहली बात उद्योग-प्रधान शिक्षा की है। प्राचीन तपोवनों में भी औद्योगिक शिक्षा अथवा हस्त-कौशल उस समय की शिक्षा-पद्धति का एक अंग था। उन दिनों बौद्धिक शिक्षा और औद्योगिक शिक्षा, ऐसे शिक्षा के दो अलग अंग नहीं थे; बल्कि दोनों एक ही ज्ञानान्वेषण के साधन थे। ब्रह्मचारी जहाँ ब्रह्मविद्या का अध्ययन करते थे, तहाँ वनान्तरों से समिधा-हरण, गुरु की गायों का पालन और नीवार धान्य आदि का संग्रह भी करते थे। इन साधनों में ऊँच-नीच की कोई भेद-बुद्धि नहीं थी!

दूसरी बात स्वावलम्बी शिक्षक की है। हमारी भारतीय संस्कृति की तो निरन्तर यह धारा ही रही है, कि विद्यार्थी गुरु का निर्वाह करें। प्रस्तुत योजना में और उसमें

भेद केवल इतना ही है कि प्राचीन भारत में विद्यार्थी भिक्षान्न से गुरु का और अपना निर्वाह करते थे। क्योंकि उन दिनों हमारा समाज छोटा किन्तु समृद्ध था; उसमें उद्वृत्त अन्न बहुत था; इसलिए उद्वृत्त अन्न से शिक्षा का व्यय, अर्थात् गुरु-शिष्य की अन्न सम्बन्धी आवश्यकता का निर्वाह होता रहता था। पर आज हमारी सामाजिक परिस्थिति बदल गई है; आज हमारे समाज में उद्वृत्त अन्न नहीं है। इसलिए आज विद्यार्थी अपने परिश्रम से गुरु का निर्वाह करेंगे : इसी में उनका गौरव रहेगा; उनकी आत्म-मर्यादा की अभिवृद्धि होगी।

अन्त में मुझे यही कहना है कि हमारा मन अभी तक पश्चिमी शिक्षा के भार से दबा हुआ है। इस भार से अपने को मुक्त करके, जब हम स्वतंत्र, स्वाधीन और नवीन चित्त लेकर इस प्रश्न पर विचार करेंगे, तो हमें मालूम हो जायगा कि वर्तमान परिस्थिति में हमारे देश के लिए यही एक-मात्र सच्चा मार्ग है।

: ६ :

फिर गांधीजी की आज्ञा से मध्य-प्रान्त के शिक्षा-मंत्री माननीय **श्री. पं. रविशंकरजी शुक्ल** ने प्राथमिक शिक्षा की दृष्टि से अपने प्रान्त की स्थिति का विवेचन करते हुए नीचे लिखा भाषण किया :

सबसे पहले जब मैंने 'हरिजन' में महात्माजी का वह लेख पढ़ा, जिसमें स्वावलम्बी-शिक्षा का उल्लेख था, तब इस विषय पर मैं स्वतन्त्ररूप से सोच रहा था। परन्तु उस लेख के पढ़ने से यह पता नहीं चला कि महात्माजी के ठीक विचार क्या हैं! हमने जो सोचा है, वह उससे अलग पड़ता है। लेकिन आज तो मुझे महात्माजी की योजना के सिलसिले में कुछ कहने की आज्ञा हुई है। यदि कल महात्माजी की आज्ञा हुई, तो अपनी योजना को भी मैं पेश करूँगा। इस वक्त मैं उसकी चर्चा करना नहीं चाहता, क्योंकि उसकी चर्चा करने से अभी गड़बड़ मच जाने की सम्भावना है।

अभी जो बात हमारे सामने पेश है, उसको मैं बड़े-बड़े सिद्धान्तों से नहीं देखना चाहता। जिस दृष्टि से उसको श्री विनोबा ने और काका साहब ने देखा है, उस दृष्टि से भी देखना नहीं चाहता। मैं तो उसको देश की वर्तमान परिस्थिति की दृष्टि से देखना चाहता हूँ। सवाल यह है, कि महात्माजी जो शिक्षा देना चाहते हैं, वह दी जा सकती है या नहीं? यदि उसके सिवा दूसरा रास्ता नहीं है, तब तो उसीपर चलना चाहिए। यदि कोई दूसरा रास्ता है, तो वह क्या है, कि जिसपर हम चल सकते हैं? यहाँ हमें इसीका विचार करना है। लेकिन इसके पहले मैं अपने प्रान्त की परिस्थिति बतला देना चाहता हूँ, जिससे आपको मालूम हो जाय कि विद्यार्थियों को उद्योग-धंधा सिखाना चाहिए या नहीं? हमारे देश में जो किसान हैं, उनके जीवन-निर्वाह का क्या साधन है? इसका जवाब ढूँढ़ने के लिए हमने एक 'चार्ट' बनवाया है। हमारे प्रान्त में ७,८०,००० किसान हैं; उनमें ४९ फ़ीसदी ऐसे हैं, जिनके पास ५ एकड़ या उससे भी कम ज़मीन है। दूसरे, २१ फ़ीसदी ऐसे हैं, जो ५ से १० एकड़ तक ज़मीन जोतनेवाले हैं। तीसरे, दस फ़ीसदी ऐसे हैं, जिनके पास १० एकड़ से ज्यादा और १५ एकड़ से कम ज़मीन है। चौथे, ६ फ़ीसदी किसान ऐसे हैं, जिनके पास १५ से ज्यादा और २० एकड़ से कम ज़मीन है। चार फ़ीसदी किसान ऐसे हैं, जिनके पास २० एकड़ से ज्यादा और २५ एकड़ से कम ज़मीन है। तीन फ़ीसदी किसान ऐसे हैं, जिनके पास २५ एकड़ से ज्यादा और २० एकड़ से कम ज़मीन है। दो फ़ीसदी किसान ऐसे हैं, जिनके पास ३० एकड़ से ज्यादा और ३५ एकड़ से कम ज़मीन है। एक फ़ी सदी किसान ऐसे हैं, जिनके पास ३५ एकड़ से ज्यादा और ४० एकड़ से कम ज़मीन है। शेष ४ 'परसेन्ट' के पास ४० एकड़ के ऊपर है। नतीजा यह है कि ८० फ़ीसदी किसान ऐसे हैं, जिनके पास १० या १५ एकड़ से ज्यादा ज़मीन नहीं है। अब सोचना यह है, कि इतनी ज़मीन एक कुटुम्ब के लिए काफ़ी है या नहीं?

ज़मीन से कमाई कैसी होती है, इस विषय का एक लेख 'हरिजन' में निकला था। श्री महादेव देसाई को यह शक हो गया था, कि जिस ज़मीन से किसानों का पूरा निर्वाह भी नहीं होता, उससे स्कूल का खर्च कैसे निकल सकता है? मैंने अपने प्रान्त की सरकारी खेती का हिसाब निकाला और कुछ गैर-सरकारी हिसाब भी मँगवाया। ये गैर-सरकारी किसान खुद अपने हाथों खेती नहीं करते: आदमी रखते हैं और उनसे खेती करवाते हैं। किन्तु वे एक-एक पाई का हिसाब ईमानदारी के साथ रखते हैं। इनसे और सरकारी फार्मों से जो हिसाब मिला, उससे पता चला कि २० से २५ एकड़ तक ज़मीन जिसके पास न हो, उसका ठीक-ठीक निर्वाह नहीं हो सकता।

हमारे ९५ फ़ीसदी किसान देहात में रहते हैं। यदि उनको दूसरा कोई उद्योग-धंधा न सिखाया जाय तो उन्हें एक वक्त का खाना भी बराबर न मिल सके। किसान ग़रीब तो हैं ही, ऊपर से उनपर क़र्ज़ का बोझ लदा हुआ है; फिर उन्हें दिन-रात हाय-हाय के सिवा कुछ सूझता भी नहीं। इसलिए ज़रूरत इस बात की है कि देहात में जो भी शिक्षा दी जाय, उसमें उद्योग-धंधे की शिक्षा अवश्य रहे। आजकल जो शिक्षा दी जा रही है, उसमें इस बात की तरफ़ ध्यान नहीं है। इसलिए हमें हस्त-कला द्वारा शिक्षा देनी चाहिए। मध्य-प्रदेश में तीन साल से इसका प्रयोग हो रहा है। यह चौथा वर्ष है। मगर जिस दृष्टिकोण से महात्माजी इसे देखते हैं, वह दृष्टिकोण तो इसमें नहीं है, अर्थात् बालकों की कमाई से शाला का खर्च निकालने का उद्योग नहीं किया जाता। मेरे ज़िले में तीन साल से ५ पाठशालायें चलती थीं और अब १५ शालायें चलती हैं। उनमें हस्त-कला की शिक्षा दी जाती है। पर यह बात नहीं है कि उसीसे शाला का सब खर्च चल जाता हो। उलटे डिस्ट्रिक्ट बोर्ड को प्रत्येक ऐसी शाला को ४०) रु. सालाना अधिक देना पड़ता है। जबतक वह नहीं दिया जाय, तबतक उद्योग-धन्धे की शिक्षा का काम नहीं चल सकता। इस तरह इसका प्रयोग चल रहा है, और कुछ लोगों ने इधर ध्यान भी दिया है।

हमारे यहाँ के एक अध्यापक अकोला हाईस्कूल में हैं। उन्हें मैंने कहा कि २२ तारीख़ को वर्धा में हाज़िर रहें, और जिस तरीक़े से वे शिक्षा देते हैं, यहाँ के नार्मल स्कूल में उसका प्रदर्शन करें। आज यह प्रदर्शन ५ बजे से खुला रहेगा। जो सज्जन देखना चाहें, अवश्य देखें।

अब हमें देखना यह है कि उद्योग-धंधों से इतनी उत्पत्ति हो सकती है या नहीं, कि जिससे शाला का काम चल सके। इस समय हमारे प्रान्त में ४० हज़ार गाँव हैं और उनमें कुल ५ हज़ार शालायें हैं। इन शालाओं में १६ हज़ार गाँवों के लड़के पढ़ने आते हैं। बाक़ी २४ हज़ार गाँव तो ऐसे हैं, जहाँ पढ़ना क्या चीज़ है, कोई जानता भी नहीं। इस-लिए ऐसी योजना तैयार होनी चाहिए, जिससे उनको भी लाभ मिले। परन्तु आज तो हमारे सामने विचारणीय विषय पाठ्य-क्रम का है। हमें सोचना है कि शिक्षा के साथ उद्योग-धंधों की शिक्षा भी कैसे मिले। इसके लिए पिछले महीने श्री आर्यनायकम् और काका कालेलकर साहब के साथ इस प्रान्त के चार इन्स्पेक्टर विचार करने बैठे थे। उनमें

एक रिटायर्ड हैं और एक अभी प्रयोग कर रहे हैं कि हस्त-कला की शिक्षा -किस प्रकार दी जानी चाहिए। ये लोग जिस परिणाम पर पहुँचे, उसकी एक रिपोर्ट मेरे पास आई है।

मैं उस वक्त यहाँ हाज़िर न रह सका था; मगर मैं समझता हूँ कि शायद महात्माजी ने इस रिपोर्ट को देखा है। वे लोग जिस नतीजे पर पहुँचे हैं, वही बात इस रिपोर्ट में निश्चित कर दी है। और वह यों है :

"हम लोग जो शिक्षा देना चाहते है, उसका मतलब यह नहीं कि एक बालक ७ वर्ष तक तकली ही कातता रहे और अन्य विषय कुछ न सीखे। हमारा मतलब यह है कि वह ७ वर्ष में तकली के काम में तो निपुण हो ही जाय और साथ-साथ दूसरा काम भी सीख ले। फिर सात साल के बाद वह जो चाहे काम ले ले; पर कम से कम वह उसके द्वारा १५) रु. माहवार कमाने लायक ज़रूर बन जाय; यानी सात साल की शिक्षा पाकर वह १५) कमाने की योग्यता प्राप्त कर ले। और इसका हिसाब किसी एक लड़के को नहीं, बल्कि पूरे स्कूल को ध्यान में रख कर किया जाय।"

हमारा प्राथमिक कोर्स ७ वर्ष का होगा। प्रश्न है कि उसमें हमें क्या-क्या सिखाना चाहिए। उक्त बैठक में इस बात का भी निर्णय हुआ है। इन सात वर्षों में छात्रों को कई बातें सीखनी होंगी, जिनका उक्त रिपोर्ट में उल्लेख किया गया है।

दूसरी बात योग्यता के बारे में है; सो इसमें 'हेल्थ एबिलिटी', 'अर्निंग एबिलिटी' आदि आ गये हैं। यह सब सात वर्ष के अन्दर सिखाया जायगा। मगर इसे अमली रूप देते समय हम लोगों के सामने कठिनाइयाँ अवश्य आयेंगी।

अभी देहात में जो शालायें चलती हैं, उनका कोर्स ४ साल का है। वहाँ बालकों को 'अपर प्राइमरी' का सार्टीफिकेट मिल जाता है। फिर चाहे वे आगे पढ़ें या न पढ़ें। यदि कोई विद्यार्थी आगे पढ़ना चाहे, तो उसे 'वर्नाक्युलर मिडिल स्कूल' में जाना पड़ता है, जहाँ तीन साल का कोर्स है। इस तरह उसके सात साल तो पूरे हो जाते हैं; पर मिडिल की पढ़ाई पूरी नहीं हो पाती। शहरों में मिडिल तक आठ साल रखे गये हैं। फिर ३ साल हाईस्कूल का कोर्स है। इस तरह ११ वर्ष उसके पूरे हो जाते हैं। हमारी इस स्कीम के मुताबिक, जहाँ तक मैं समझता हूँ, इनमें से दो वर्ष निकाल भी दिये जायँ, तो भी कोई नुकसान

न होगा। ऐसा हो जाने पर जब हम इसका प्रयोग कर लेंगे, और यह निश्चित हो जायगा, तो फिर यही कोर्स सब जगह जारी किया जा सकेगा।

हमारे प्रान्त के अफ़सरों ने तो यह निश्चय किया था कि १२ स्कूल खोले जायँ। हरएक 'सर्कल' या हलके में तीन स्कूल खुलें। और उनमें सफलता मिलते ही इस विधान का प्रचार सर्वत्र कर दिया जाय। मैं इसमें थोड़ा परिवर्तन करना चाहता हूँ। मेरे विचार से इसका पहला स्कूल तो होगा सेगाँव का, और दूसरा होगा वर्धा का। और १० स्कूल इनके १० मील के इर्द-गिर्द में होंगे, जो श्री आर्यनायकम् के अधीन रहेंगे, और महात्माजी के लिए मोटर से सिर्फ़ १० या १५ मिनट का उनका रास्ता होगा। इस विषय में जिस शिक्षक की प्रवृत्ति होगी, उसीको इस काम में रक्खा जायगा।

अभी तो मैं यह जानना चाहता हूँ कि यदि इस योजना का किसी ने व्यावहारिक रूप से ज्ञान प्राप्त किया है, तो वह मुझे बता दें। इससे हमें यह मालूम हो सकेगा कि हम शिक्षा को स्वावलम्बी बना सकेंगे या नहीं। यदि किसी ने ऐसा एक भी स्वावलम्बी स्कूल चला लिया है, तो फिर वैसे सैकड़ों स्कूल चल सकते हैं। क्योंकि वह एक स्कूल हमारे अन्य स्कूलों का उत्पत्ति-केन्द्र बन जायगा। यदि किसी ने ऐसा प्रयोग किया है, यानी लड़कों से कार्य कराया है, और स्कूल को स्वावलम्बी बनाया है, तो फिर इसमें किसी को कुछ कहने की गुंजाइश ही नहीं रह जाती है। स्वावलम्बी से हमारा मतलब अभी इतना ही है, कि ज़मीन, मकान, पढ़ाई आदि का ख़र्च छोड़ दिया जाय; केवल शिक्षक की तनख्वाह उसमें से निकल सकती है या नहीं, यही देखा जाय। मेरे विचार में एक शिक्षक के लिए ४० विद्यार्थी गिने जाने चाहिएँ।

अपनी 'विद्या-मन्दिर-योजना' के सम्बन्ध में हमें बहुत सी बातें कहनी हैं, जो हम कल आपके सामने पेश करेंगे।

* * *

इसके बाद ठीक ९ बजे सभापतिजी की आज्ञा से दूसरी बैठक भी समाप्त हुई। और, इसी समय डॉ. ज़ाकिर हुसैन की अध्यक्षता में एक बृहत् समिति मूल योजना की छान-बीन करने और उसपर अपनी सर्वसम्मत राय

प्रकट करने के हेतु से नियत की गई। इस समिति की बैठक सम्मेलन के स्थान पर ही ता. २२ की रात को ८ से १० बजे तक हुई।

सम्मेलन के सब निमंत्रित सदस्यों को इस समिति में शरीक होने की इजाज़त थी। और, अधिकांश सदस्यों ने इस समिति की बैठक में उपस्थित होकर उसकी कार्रवाई में भाग भी लिया था। प्रस्तावित योजना पर विचार करते हुए इस समिति में जो चर्चा हुई, उसका संक्षिप्त विवरण परिशिष्ट [ब] में दिया गया है।

* * *

डॉ. ज़ाकिर हुसैन की कमेटी ने रात **गांधीजी** के प्रस्तावों पर विचार करने के बाद दूसरे दिन परिषद् के सामने रखने के लिए जो सिफ़ारिशी प्रस्ताव तैयार किये, वे इस प्रकार थे :

१ इस परिषद् की राय में देश के सब बच्चों के लिए सात बरस की मुफ्त और लाज़िमी तालीम का इन्तज़ाम होना चाहिए।

२ तालीम मातृ-भाषा के ज़रिये दी जानी चाहिए।

३ यह परिषद् **महात्मा गांधी** की इस तजवीज़ का समर्थन करती है कि इस तमाम मुद्दत में शिक्षा का मध्यबिन्दु किसी क़िस्म की उत्पादक दस्तकारी होना चाहिए, और बच्चों में जो दूसरे अच्छे गुण पैदा करने हैं, और उनको जो शिक्षा-दीक्षा देनी है, उसका सम्बन्ध, जहाँ तक हो सके, इसी केन्द्रीय दस्तकारी से होना चाहिए, और इस दस्तकारी का चुनाव बच्चों के वातावरण और स्थानिक परिस्थिति को ध्यान में रखकर किया जाना चाहिए।

४ परिषद् आशा करती है कि तालीम के इस तरीक़े से धीरे-धीरे अध्यापकों की तनख्वाह का खर्च निकल आयेगा।

तीसरी बैठक

वक्ता

१. महात्मा गांधी
२. अध्यापक खुशाल तलकशी शाह
३. आचार्य देवशर्मा
४. मौलवी महम्मद हुसैन, हैदराबाद
५. श्री नरहर लक्ष्मण आठवले
६. श्री अविनाशलिंगम् चेट्टियर
७. अध्यापक नारायणदास मलकानी
८. श्री नानाभाई भट्ट
९. माननीय श्री बाल गंगाधर खेर
१०. आचार्य एस. आर. भिसे
११. माननीय पं. प्यारेलालजी शर्मा
१२. माननीय श्री सुब्बारायन्
१३. माननीय श्री विश्वनाथदास

दूसरा दिन

तीसरी बैठक

ता. : २३-१०-३७ सुबह : ८ से ११ तक

: १ :

आरंभ में गांधीजी ने प्रस्तावित योजना पर डॉक्टर ज़ाकिर हुसैन की समिति की ओर से जो सिफ़ारिश लगभग सर्वसम्मति से पास होकर आई थी, उसे पढ़कर सुनाया और उसके बारे में अपने विचार प्रगट करते हुए कहा :

ज़ाकिर साहब ने कल रातवाली आपकी बैठक की रिपोर्ट मुझे सुनाई है, और आप लोगों ने लगभग सर्वसम्मति से जो प्रस्ताव स्वीकार किया है, उसे भी मैं पढ़ गया हूँ। रात की आपकी समिति की कार्रवाई सुनने के लिए आज मैं यहाँ थोड़ा जल्दी आ गया। मुझे यह सुनकर खुशी हुई कि रात की बैठक में आपमें से क़रीब-क़रीब सभी शामिल हुए थे, और बहुतों ने उसमें बड़ी दिलचस्पी से काम किया था। मैं जानता हूँ, कि यद्यपि आप सबने लगभग एक राय होकर यह प्रस्ताव मंजूर किया है, तब भी कुछ-न-कुछ मतभेद तो रह ही गया है। जिनका अब भी इस तजवीज़ से विरोध है, उनसे मेरी प्रार्थना है कि वे अपने विचार निःसंकोच भाव से यहाँ प्रकट करें। आपको समझ लेना चाहिए कि मैं इस काम को बन्दूक के ज़ोर से कराना नहीं चाहता। मुझे तो सारे देश में इसका प्रचार करना है; इसके अनुकूल आबोहवा पैदा करनी है; और देश के पढ़े-लिखे लोगों को इसका रहस्य समझाकर उनसे इसके चलाने में मदद लेनी है। इसलिए जिन्हें इस तजवीज़ से इख्तलाफ़ हो, उनकी बातें भी हमें गौर से सुननी चाहिएँ,

ताकि हमारे जो मिनिस्टर यहाँ मौजूद हैं, उन्हें अपना रास्ता साफ़ दिखाई पड़ सके। मैं मिनिस्टर साहबों से भी कहूँगा कि वे इस तजवीज़ के बारे में, उनके जो ख़यालात हैं, और इस परिषद् की कार्रवाई का उनके दिल पर जो असर हुआ है, सब हमारे सामने बयान करें। मैं उनकी बात को भी ग़ौर से सुनना चाहता हूँ। आप देखते हैं कि इस परिषद् में जान-बूझकर हमने ऐसे ही सज्जनों को बुलाया है, जो पिछले बीस वर्षों से इस दिशा में कुछ-न-कुछ काम करते रहे हैं, और इसका अनुभव रखते हैं।

मैं जानता हूँ कि **प्रोफेसर शाह** को इस तजवीज़ से थोड़ा विरोध है, और उनके लिए ऐसा होना स्वाभाविक है; क्योंकि उनकी विचार-शैली, उनका 'स्कूल ऑव् थॉट्' ही दूसरे ढंग का है; हमसे भिन्न है। इसलिए सबसे पहले मैं उनकी राय ही सुनना और समझना चाहता हूँ।

: २ :

गांधीजी की प्रार्थना पर प्रोफेसर शाह ने प्रस्ताव के कुछ अंशों से अपनी सहमति प्रकट करते हुए, जिस अंश से उनका विरोध था, उसकी व्याख्या में नीचे लिखा भाषण किया :

महात्माजी की तजवीज़ की दो चीज़ों से मैं पूरी तरह सहमत हूँ। मैं मानता हूँ, कि जो भी शिक्षा दी जाय, मातृभाषा द्वारा ही दी जाय। लेकिन गाँवों में इस शिक्षा का क्रम कितने साल का रहे, इस पर हमें और भी विचार करना होगा, और पूरे सोच-विचार के बाद ही वह मुद्दत तय करनी होगी। मुझे यह मंजूर है। मैं इस बात को भी क़बूल करता हूँ कि बच्चों को हाथ की कारीगरी कुछ-न-कुछ ज़रूर सिखानी चाहिए, जिससे हाथ-पैरों की मज़बूती के साथ उनका दिमाग़ भी तरक़्क़ी कर सके। हाथ के काम को मैं इसीलिए अच्छा और ज़रूरी समझता हूँ, कि उससे बच्चों में मेहनत का काम करने की ताक़त पैदा होती है, और उनके दिमाग़ का विकास भी होता है। उद्योग द्वारा शिक्षा देने का विचार एक अच्छा विचार है। हरएक आदमी को इस तरह की शिक्षा मिलनी चाहिए। हाथ के काम से सिर्फ़ दिमाग़ का विकास ही नहीं होता, बल्कि मनुष्य

में एक प्रकार का आत्म-विश्वास भी पैदा होता है। वह समझने लगता है : 'मैं भी कुछ कर सकता हूँ'। इस तरह उसमें स्वावलम्बन का, अपने पैरों खड़े होने का, विश्वास तो बहुत-कुछ पैदा हो ही जाता है। और, मैं मानता हूँ कि यह बड़ी अच्छी चीज़ है। लेकिन हाथ का काम सिखाकर उससे कुछ पैसे पैदा करने की बात को मैं शिक्षा नहीं, सर्विस या नौकरी समझता हूँ। मैं मानता हूँ कि इस वक्त हमारे देश की हालत अच्छी नहीं है; हम हर तरह कमज़ोर और गिरे हुए हैं, और हमें अपनी हालत को सुधारने के लिए पैसों की ज़रूरत है। लेकिन वह पैसा हमें इस तरह नहीं पैदा करना चाहिए। हम अपने देश में अभी प्राइमरी तालीम का भी ठीक प्रबन्ध नहीं कर पाये हैं। इसलिए हमारा फ़र्ज़ तो यह हो जाता है कि हम इसे बिलकुल मुफ्त और लाज़िमी बना दें, ताकि छोटे-बड़े सब इससे लाभ उठा सकें और नागरिक के नाते अपने कर्त्तव्यों का ठीक-ठीक पालन कर सकें। अगर हमारे बच्चे अपनी मेहनत से कमाये हुए पैसों के ज़रिये तालीम हासिल करेंगे, तो उनके दिल में यह ख़याल बराबर बना रहेगा कि उन्होंने जो कुछ सीखा है, अपनी मेहनत से और अपनी कमाई से सीखा है। मेरे ख़याल में, इस तरह की भावना उनके दिल में पैदा नहीं होने देनी चाहिए, क्योंकि बच्चों की या आम रिआया की प्राइमरी तालीम का इन्तज़ाम करना राज्य या सरकार का पहला फ़र्ज़ है। मेरा मतलब यह है कि आज जो बच्चे इस तरह सरकारी मदद से पढ़ेंगे और परवरिश पायेंगे, वे जब पढ़-लिख कर सम्पन्न बनेंगे, तो इस क़ाबिल होंगे, कि सरकार ने उनपर जो कुछ ख़र्च किया है, उसे किसी रूप में लौटा दें। लेकिन अगर पढ़ाई के दिनों में ही लड़कों की मेहनत से आप मास्टरों का ख़र्च निकालने की कोशिश करेंगे, तो मेरी राय में यह बहुत बेजा होगा। बच्चों को तालीम देते समय उनसे आपको यह उम्मीद न रखनी चाहिए कि इस तालीम के बदले में वे आपको कुछ कमा कर दें। मुझे ताज्जुब हो रहा है कि आप बच्चों के अन्दर इस प्रकार के 'एक्सचेञ्ज' या बदले की यह भावना क्यों पैदा करना चाहते हैं? आप तो 'एक्सचेञ्ज' के विरोधी रहे हैं, और उसे समाज के अन्दर से निकालना चाहते हैं। इसलिए मेरी अर्ज़ यह है कि अगर आप शुरू से सात साल के बच्चों को स्कूलों में उद्योग-धन्धों के ज़रिये कमाना-धमाना सिखायेंगे, तो ज़रूर उनके अन्दर एक तरह की गुलामी पैदा हो जायगी।

इस प्रस्ताव में कहा गया है कि आप किसी दस्तकारी या उद्योग के ज़रिये बच्चों को सारी तालीम देना चाहते हैं। ठीक है; लेकिन इसमें आपको एक बड़ी भारी

कठिनाई का सामना करना पड़ेगा। आपको मानना होगा कि एक मदरसे में तीन-चार तरह की दस्तकारियों का इन्तज़ाम ज़रूरी हो पड़ेगा। क्योंकि सब विद्यार्थी किसी एक ही दस्तकारी को पसन्द न करेंगे। उस हालत में एक ही क्लास में शिक्षक को तीन-चार तरह की दस्तकारियों द्वारा तालीम देनी पड़ेगी, जो कि मुमकिन नहीं मालूम होता। तब आपको हरएक दस्तकारी के लिए अलग-अलग मास्टर रखने पड़ेंगे। जहाँ तक मैं समझा हूँ, इस वक्त आपके ख़याल में चार ख़ास दस्तकारियाँ हैं: बढ़ईगिरी, बुनाई, खेती और लुहारी। एक क्लास में एक उद्योग सीखनेवाले कम-से-कम तीस लड़के होंगे, और अलग-अलग उद्योगों की अलग-अलग क्लासें होंगी। अब आप ही सोचिये कि इन अलग-अलग क्लासों और उद्योगों के लिए आपको कितने शिक्षक, कितना ख़र्च और कितना सामान बटोरना पड़ेगा; और, सब मिलकर यह कितना भारी ख़र्च हो जायगा! मैं तो समझता हूँ कि यह ऐसी चीज़ होगी, जिसे हम बरदाश्त नहीं कर सकेंगे।

मेरी राय में, महात्माजी ने जो तजवीज़ रक्खी है, वह हमारे देश के लिए एक बिलकुल नई चीज़ है; और हममें से किसीको उसका तज़रबा नहीं है। हमारे दिल में आज जो डर है, उसकी वजह भी यही है। इसलिए मेरे ख़याल में बेहतर तो यह होगा कि आप पहले कुछ चुने हुए मुक़ामों पर, और एक दी हुई मुद्दत के अन्दर, इसके कुछ प्रयोग करवायें। अगर इन प्रयोगों के अन्त में यह साबित हुआ कि दरअसल यह चीज़ चल सकती है, और फ़ायदेमन्द है, तो हम इसे लेकर आगे बढ़ेंगे। लेकिन अगर इसमें कामयाबी न हुई, इसका नतीजा सन्तोषजनक न निकला, तो हम इसपर दुबारा सोचेंगे। इसलिए मैं तो यह अर्ज़ करूँगा कि किसी भी हालत में इस तजवीज़ को एकदम, एकसाथ, सब जगह ज़ारी न करवाया जाय। अगर ऐसा किया गया, तो मुझे डर है कि बजाय फ़ायदे के नुक़सान ही ज्यादा होगा।

चलते-चलते एक बात मुझे और कहनी है, जिसे मैं कल कह भी चुका हूँ। मेरा मतलब यह है कि इस तजवीज़ के मुताबिक हमारे मदरसों में बच्चे जो चीज़ें तैयार करेंगे, उनके कारण देश के दूसरे पेशेवर कारीगरों के माल के साथ ज़ोरों का 'कम्पिटीशन' शुरू हो जायगा, और उनकी आमदनी पर बड़ा धक्का बैठेगा। वे बेचारे कल-कारख़ानों और मिलों की होड़ के कारण आज वैसे ही परेशान हैं; तब उनकी परेशानी शायद इतनी बढ़ जायगी कि वे उसे बरदाश्त भी न कर सकेंगे! मेरी अर्ज़ है कि आपको इसका भी कोई रास्ता सोच लेना चाहिए।

सात साल से लेकर चौदह-पन्द्रह साल तक की उमर के जो बच्चे हमारे इन मदरसों में दस्तकारी का काम करेंगे, उसका असर सिर्फ़ मिलों में काम करनेवाले मज़दूरों पर ही न पड़ेगा; बल्कि दूसरे छोटे-मोटे पेशेवर कारीगरों पर भी पड़ेगा और इसकी सूरत एक प्रकार के 'रोजिमेण्टेशन'-जैसी हो जायगी।

इस तरह अगर सारे हिन्दुस्तान के करोड़ों बच्चे मदरसा में नित-नया माल पैदा करने लगेंगे, तो उससे हमारे तमाम पेशेवर कारीगरों की दुर्दशा का पार न रहेगा। आपको इसपर भी पूरी तरह ग़ौर कर लेना चाहिए।

मैं फिर आपसे अर्ज़ करता हूँ कि पहले आप कुछ चुनी हुई जगहों में इसका प्रयोग शुरू कीजिये, उसकी एक मुद्दत कायम कर दीजिये, और देखिये कि नतीजा क्या होता है। अगर, जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, तजरबे के बाद यह चीज़ फ़ायदेमन्द साबित होती है, तो हम इसे खुशी-खुशी अपना लेंगे और आगे बढ़ायेंगे। और, अगर वैसा न हुआ, तो कोई दूसरी तरकीब सोचेंगे।

: ३ :

आपके बाद गुरुकुल काँगड़ी के आचार्य **श्री देवशर्मा** 'अभय' ने योजना का समर्थन करते हुए स्वावलम्बन के विषय में अपने कुछ विचार और कुछ अन्य सूचनायें पेश कीं :

इस प्रस्ताव से मैं सहमत हूँ। लेकिन इस प्रस्ताव को अमल में लाने की मेरी जो योजना है, वह पूज्य बापूजी की योजना से कुछ भिन्न प्रतीत होती है, अतः मैं चाहता हूँ कि उसकी सूचना आपको दे दूँ।

मेरे विचार में, प्रस्तुत विषय के दो भाग हैं। एक तो शिक्षा का उद्योग द्वारा दिया जाना और दूसरे, उसका स्वावलम्बी होना। मेरी योजना स्वावलम्बी होने के सम्बन्ध में है। पर मैं कुछ शब्द शिक्षा के उद्योग द्वारा दिये जाने के बारे में भी कह देना चाहता हूँ।

मेरे विचार में, हमारे आशय को विस्तृत अर्थ में प्रकट करने के लिए ठीक शब्द तो हैं, 'जीवन द्वारा शिक्षा देना,' न कि 'उद्योग द्वारा शिक्षा देना'। परन्तु चूँकि न केवल हाथ से काम करना ही, किन्तु उद्योग-धन्धा भी जीवन का एक अत्यन्त आवश्यक अंग है, और फिर आजकल इसकी उतनी ही अधिक अवहेलना की जाती है, अतएव हमारे लिए 'उद्योग द्वारा शिक्षा' का प्रयोग करना ही सप्रयोजन होता है। आजकल जो **किताबी शिक्षा** प्रचलित है, उसीके विरोध में हमें **उद्योग द्वारा शिक्षा** बोलना पड़ता है। नहीं तो, हाथ के काम द्वारा या उत्पादक-श्रम द्वारा शिक्षा देने में वे सब बातें नहीं आतीं, जो 'जीवन द्वारा' शिक्षा देने में आ जाती हैं, और शायद यही बापूजी का आशय भी होगा। जीवन द्वारा शिक्षा देने की बात पर कोई शिक्षाविज्ञ असहमत नहीं हो सकता। विशेषतः बालकों की शिक्षा का तो हाथ के काम द्वारा होना अत्यन्त स्वाभाविक है। पर ऐसा कहा गया है कि प्राचीन काल में तो ब्रह्मज्ञान भी कार्य द्वारा ही मिलता था। उपनिषद् में आता है कि **सत्यकाम** जब गुरु के पास ब्रह्मविद्या सीखने गया, तो गुरु ने उसे १०० दुबली-पतली गायें दे दीं, और कहा कि जब ये एक हज़ार हो जायँ, तब हमारे पास आना। गो-सेवा करते-करते जब उसकी गायें सौ से एक हज़ार हो गईं, और वह उन्हें लेकर चार दिन में गुरु के पास पहुँचा, तो उन चार दिनों में ही उसे ब्रह्मज्ञान हो गया। किसी किताबी पढ़ाई या किसी व्याख्यान के बिना ही केवल गो-सेवा से उसे ब्रह्मज्ञान मिल गया! गो-सेवा भी एक धन्धा या उद्योग ही है। पर उसी **सत्यकाम** का एक शिष्य **उपकोसल** केवल अग्नि-चर्या करते-करते ज्ञानी हो गया। अग्नि-होत्र तो कोई धन्धा नहीं है, पर जीवन का एक कार्य अवश्य है। मतलब यह है, कि हमारे बालक अपने शिक्षक से जीवन द्वारा बहुत कुछ सीखेंगे, केवल उद्योग द्वारा ही नहीं।

अब मैं स्वावलम्बन वाली बात पर आता हूँ। इसमें मुझे कुछ भी शक नहीं कि वह उद्योग, जिसके द्वारा आमतौर से यह शिक्षा दी जानी चाहिए, **वस्त्र** बनाने का ही उद्योग हो सकता है। अन्न की तरह वस्त्र भी अत्यन्त जीवनोपयोगी वस्तु है, और किसान के कार्य के साथ इसीको तुरन्त जोड़ना चाहिए। हमारी १०-१२ कताई-बुनाई की पाठशालाओं के साथ एक पाठशाला बढ़ईगिरी-लुहारी आदि की भी हो, जिसमें इन पेशों के बालक शिक्षा पायें; किन्तु साधारण तौर पर वस्त्रोत्पत्ति की कला ही अभी शालाओं में चलेगी। पर आगे मेरी योजना यह है कि शाला में विद्यार्थी जो सूत, वस्त्र, आदि वस्तुयें उत्पन्न करें, उन्हें वे अपने घर ले जायें। उनको शाला में रख लिया जाय,

और फिर बेचने का झंझट किया जाय, यह सब कुछ न हो। इससे प्रोफेसर शाह जो मुश्किलें बताते हैं, कि बिक्री विभाग खोलना होगा, अनुचित स्पर्धा होगी, इत्यादि; वे सब दोष हट जाते हैं। तो फिर आमदनी कैसे हो? इसके लिए मेरी योजना यह है कि फ़सल के समय में गाँववालों से अन्न ले लिया जाय! यह अनुभव की बात है कि इस समय में गाँववाले इतनी आसानी से अन्न दे सकते हैं, कि कुछ कहना नहीं। और, जब बालक साल भर शाला में जाकर और उत्पत्ति करके रोज़ एक-न-एक वस्तु अपने घर लायेंगे, तो उनके माता-पिता को या गाँववालों को अन्न द्वारा शाला की मदद करना बड़ा ही प्रिय कर्त्तव्य मालूम पड़ेगा। आज-कल के गाँववालों की मनोवैज्ञानिक दृष्टि के अनुभव से मैं कहता हूँ, कि यदि बालक शाला में कुछ उत्पत्ति करके घर ले जायँगे, तो प्रत्येक घरवाला बालक को खुशी से पाठशाला भेजेगा। नहीं, वे कहेंगे, कि हमारे बच्चों से मुफ्त काम करवाते हैं, और पढ़ाते नहीं। हमने एक कन्या पाठशाला में पाव भर सूत की फ़ीस लगा तो दी, पर उसे हम चला न सके। दूसरी एक ग्रामशाला में बच्चे सूत कातकर घर ले जाने लगे, तो वहाँ विद्यार्थियों की संख्या बढ़ गई। पर फ़सल में अनाज देने की प्रथा अबतक ग्राम ग्राम में है। उसे पुनरुज्जीवित करना बड़ा आसान है। यह हमारी सभ्यता के अधिक अनुकूल भी है। बापूजी पाठशाला को उसकी उत्पत्ति की बिक्री द्वारा जिस प्रकार स्वावलम्बी बनाना चाहते हैं, वह भी शायद इस परख के लिए चाहते हैं, कि विद्यार्थी ने ठीक प्रकार से धन्धा सीख लिया है या नहीं। पर मैं कहता हूँ कि जब विद्यार्थी अपने घर के उपयोग के लिए प्रेम-पूर्वक कोई चीज़ बनायेगा, तो वह उसे उपयोग-योग्य ही बनायेगा। और, वह ऐसी बन गई, तो यह उसकी पूरी परख है कि विद्यार्थी ने ठीक चीज़ बनानी सीख ली। असली सिद्धान्त तो यही है कि उपयोग के लिए उपज करना—(Produce for use)। इस तरह से प्रत्येक विद्यार्थी के लिए चर्खे आदि के बनाने में राष्ट्र को जो बहुत-सी पूँजी लगानी पड़ेगी, वह भी बच जायगी। सब कच्चा सामान विद्यार्थी घर से लायेगा। पर उसे बनाने की कला को शाला में सीखेगा। शाला की उत्पत्ति को घर ले जाने और खेत की उपज को फ़सल के समय शाला को देने से, शिक्षक का ग्राम-वासियों से एक जीवित सम्बन्ध रहेगा। यह सब चीज़ हमारी सभ्यता के अधिक अनुकूल है। मुद्रा (Money) को बीच में लाये बिना यह द्रव्य-विनिमय (Barter) ग्राम-वासियों के लिए अधिक सहज है। एवं मुद्रा के सब झंझटों से छुट्टी मिल जाती है।

अन्त में मुझे दो सूचनायें करनी हैं :

१. अपनी कुछ पाठशालाओं के लिए बनाई गई शिक्षकोपयोगी कतिपय सूचनाओं की कुछ प्रतियाँ मेरे पास हैं। जो सज्जन चाहें, मुझसे ले सकते हैं, और उनका उपयोग कर सकते हैं।

२. आज-कल हमारे लड़कों की आँखें बड़ी ख़राब रहने लगी हैं। अतः उनकी आँखों के कुछ प्राकृतिक इलाज के लिए एक पुस्तिका भी मैं उपस्थित शिक्षा-मंत्रियों को भेंट करना चाहता हूँ।

: ४ :

फिर हैदराबाद [दक्खिन] के **मौलवी महम्मद हुसैन साहब** ने असल तजवीज़ की ताईद में नीचे लिखी बातें कहीं :

मैं अपने जाती तज़रबे से यह कहा चाहता हूँ कि महात्माजी ने जो तजवीज़ रक्खी है, वह बिलकुल ठीक है। हमने मद्रास इलाक़े के एक गाँव में 'एलिमेण्टरी एज्युकेशन' (प्राथमिक शिक्षा) का एक मदरसा खोला है, जिसमें लड़कों को उद्योग के साथ-साथ शिक्षा भी दी जाती है। इस मदरसे में हमने कताई और बुनाई सिखाने का इन्तज़ाम किया है। लड़के और लड़कियाँ, दोनों, एक साथ तालीम पाते हैं। हर लड़के और लड़की की रोज़ाना आमदनी दो आना होती है। इधर उनकी बनाई चीज़ें काफ़ी मशहूर हो रही हैं, और दूर-दूर तक बिकने जाती हैं। इसलिए मैं मानता हूँ कि महात्माजी की यह तजवीज़ खूब कामयाब हो सकती है; और उद्योग-धन्धों के साथ तालीम आसानी से दी जा सकती है। कल यह कहा गया था कि इस चीज़ का तज़रबा किसी साहब को हो, तो वह बयान करें। मैं अपना तज़रबा आपको सुना चुका।

दूसरी बात मुझे यह कहनी है कि महात्माजी की तजवीज़ एक अनोखी तजवीज़ है। मुझे यह अच्छा नहीं मालूम होता कि बग़ैर इसे अच्छी तरह समझे-बूझे हम यों ही इसे शक की निगाह से देखें और इसकी उम्दगी से इनकार करें। मुझे तो इसमें

ज़रा भर भी शक नहीं कि यह ज़रूर कामयाब होगी; और कामयाबी की क्या कही, मैं तो समझता हूँ, इससे हमारे बच्चों की बुद्धि का अच्छा विकास होगा, और हमारे सामने जो सबसे बड़ा सवाल रोटी का है, वह भी हल हो जायगा।

मेरा तो तजरबा है, और ग़ालिबन् आप सब भी उससे इत्तफ़ाक़ करेंगे, कि महात्माजी की क़रीब-क़रीब सभी तजवीज़ें, यों देखने में बड़ी भड़कानेवाली होती हैं, मगर नतीजा उनका वह होता है कि देखकर दिल को ऐन तसल्ली होती है। उन्हींके तरीक़ों का यह सुफल है कि आज मुल्क के ७ सूबों में कांग्रेस की वज़ारत है। इसलिए मेरी अर्ज़ यह है कि आप शको-शुबहा से काम न लें। क्यों और कैसे के सवाल छोड़ दें। महात्माजी की तजवीज़ पर दिल से ग़ौर करें। उसकी उम्दगी को मानें। और हर तरह उसे कामयाब बनाने की कोशिश करें।

: ९ :

आपके बाद महिलाश्रम वर्धा के आचार्य श्री. नरहर लक्ष्मण आठवले ने अध्यापक शाह द्वारा उठाई गई कुछ शंकाओं के सिलसिले में नीचे लिखा भाषण किया :

प्रोफेसर शाह ने अपने व्याख्यान में जिन प्रश्नों की चर्चा की है, उनके सम्बन्ध में दो शंकायें मैं उनके सामने रखना चाहता हूँ। शाह साहब ने अपने भाषण में कहा है कि यदि शिक्षा देते समय कमाई का विचार ही विद्यार्थियों के सामने मुख्यतः रक्खा गया तो शिक्षा की दृष्टि से वह लाभप्रद नहीं होगा। कुछ अंशों में उनकी यह बात सही है। क्योंकि कमाई की तरफ़ ध्यान देने से शिक्षा में अवश्य बाधा पड़ेगी। लेकिन जिन चीज़ों का कोई उपयोग ही नहीं होनेवाला है, उन चीज़ों को बनाने में विद्यार्थियों को क्या उत्साह हो सकता है ? परन्तु जब हमारे मन में यह ख़याल होता है, कि जो चीज़ें हम बना रहे हैं, उनका उपयोग होनेवाला है, तो काम अधिक उत्साह से होता है। बाज़ार में जो चीज़ें बिकती हैं, उनसे मुकाबला करके देखने से भी विद्यार्थियों के

सामने उनकी अपनी त्रुटियाँ आती रहेंगी। बाज़ार में चीजें किस क़ीमत से बिकती हैं, इसकी जाँच करने से हमें अपने काम की उपयोगिता का ठीक-ठीक पता लगता रहेगा। यह ज़रूरी है कि हमारा ध्यान कमाई की तरफ़ अधिक न रहे। इसके लिए हम ऐसा प्रबन्ध कर सकते हैं कि कमाई की अमुक मर्यादा रखने के बदले अमुक चीज़ें बनाने का नियम हम रक्खें। इससे कमाई की तरफ़ ध्यान कम जायेगा और अच्छी चीज़ें बनाने की तरफ़ विशेष ध्यान रहेगा।

श्रीयुत शाह का दूसरा मुद्दा यह था कि जब विद्यार्थियों की चीज़ें बाज़ार में आयेंगी तो दूसरे-कारीगरों की आमदनी पर, जो तैयार माल बेचकर ही अपना निर्वाह करते हैं, बुरा असर होगा। उसमें शंका की गुंजाइश तो है। क्योंकि हमें काफ़ी संदेह है कि शिक्षा कहाँ तक स्वावलंबी हो सकती है? बात ऐसी है कि उद्योग द्वारा शिक्षा देना एक चीज़ है, और उद्योग द्वारा माल तैयार करने की कला या कारीगरी सिखाना दूसरी चीज़ है। शिक्षा देते समय विद्यार्थियों के सामने समस्यायें रखनी पड़ती हैं। और इन समस्याओं को हल करने की आदत डालना ही असली शिक्षा है। जीवन में हमें हमेशा अनेक समस्यायें हल करनी पड़ती हैं। यदि हम रोज़ नई-नई समस्यायें देते रहेंगे, तो उससे छात्रों को शिक्षा ज़रूर मिलेगी, लेकिन माल कम तैयार होगा, और आमदनी भी कम होगी। इसलिए डर है कि शायद शिक्षा सम्पूर्णतया स्वावलम्बी न हो सकेगी।

उधर, यदि विद्यार्थियों की चीज़ें बाज़ार में आईं, तो डर है कि कारीगरों की चीज़ों के साथ उनकी ज़ोरों की होड़ रहे, और उससे पेशेवरों की आमदनी कम हो जाय! लेकिन सवाल होता है कि अगर शिक्षा के साथ-साथ बिकाऊ माल उत्पन्न न करेंगे, तो शिक्षा के लिए द्रव्य कहाँ से लायेंगे? उस दशा में हमें कर बैठाकर द्रव्य इकट्ठा करना होगा। इस प्रकार नये कर बैठाने का या शिक्षा को स्वावलंबी बनाने की कोशिश करने का नतीजा एक ही होगा। क्योंकि दोनों तरह से आख़िर पैसे तो जनता ही की जेब से आनेवाले हैं। कारीगर कमायेंगे और शिक्षा के लिए कर देंगे। लेकिन इससे भी बेहतर बात यह है कि विद्यार्थी ही कुछ काम करें और अपनी शिक्षा के लिए खुद टैक्स दें। आख़िर जो धन मिलेगा, वह तो राष्ट्र की समग्र सम्पत्ति में से ही मिलेगा। पर जनता पर नये टैक्स बैठाने की अपेक्षा विद्यार्थियों को कमाऊ बनाना अधिक अच्छा है। कर की वसूली में काफ़ी पैसे ख़र्च होते हैं। तिसपर भी कर तो कम ही वसूल हो पाता है। शिक्षा को स्वावलंबी बना देने से जहाँ की चीज़ें वहीं उपयोग में आने लगेंगी। दलालों की

ज़रूरत न रहेगी और दलाली की रक़म जनता की जेब में बच रहेगी। कर की वसूली का खर्च भी बच जायगा। इस प्रकार अंत में स्वावलंबी शिक्षा की यह योजना सस्ती ही साबित होगी।

: ६ :

आपके बाद श्री रामकृष्ण मिशन विद्यालय, कोयम्बटूर के मंत्री और केन्द्रीय धारा-सभा के सदस्य श्री अविनाशलिंगम् चेट्टियर ने सभापतिजी की आज्ञा से अंग्रेज़ी में अपनी संस्था के स्वावलम्बन-सम्बन्धी अनुभवों का वर्णन करते हुए योजना के समर्थन में नीचे लिखा भाषण किया :

मेरे विचार में स्वावलम्बी शिक्षा का यह प्रश्न निरा सैद्धान्तिक प्रश्न नहीं है; बल्कि जो लोग आज शिक्षण-संस्थाओं का संचालन कर रहे हैं, उनके लिए यह ख़ास तौर पर एक व्यावहारिक प्रश्न है, क्योंकि यदि यह सफल हो गया, तो इससे संस्थाओं का आर्थिक बोझ बहुत कम हो जायगा। ज्योंही 'हरिजन' में हमने इस सम्बन्ध में महात्माजी का लेख पढ़ा, हमने सोचा कि इस विचार की परीक्षा अवश्य होनी चाहिए। और, हम फ़ौरन जुट गये। हमारे विद्यालय में रोज़ कुल सात घण्टों (पीरियड) की पढ़ाई होती है, इनमें से दो घंटे उद्योग-धन्धों की तालीम और काम के लिए रक्खे गये हैं। फ़िलहाल सुतारी, दर्ज़ीगिरी और कताई का काम सिखाया जाता है। पिछले दो महिनों में जो थोड़ा-बहुत अनुभव इस दिशा में हमें हुआ है, उसने हमें न केवल उत्साहित किया है, बल्कि इस विचार की वास्तविकता में हमारी श्रद्धा को बढ़ाया है। जिन्हें इस चीज़ से दिलचस्पी है, उनके लिए मैं यहाँ अपनी संस्था की कमाई के ठीक-ठीक आँकड़े भी दे सकता हूँ। लेकिन अभी तो सिर्फ़ यही कहना चाहता हूँ कि सिलाई और बढ़ईगिरी से जो आमदनी हमें हुई है, वह काफ़ी आशा-जनक है।

कोयम्बटूर में दो और संस्थायें भी हैं, जो ठीक-ठीक स्वावलम्बी हैं। लेकिन उनमें और हमारी संस्थाओं में जो फ़र्क़ है, वह जानने लायक है। वे बिलकुल उद्योग-

प्रधान हैं। सिवा उद्योग-धन्धों के और कोई चीज़ सिखाने का उनका दावा भी नहीं है। फिर, जो लोग वहाँ तालीम पाते हैं, वे १६ साल से ज्यादा उम्र के ऐसे नौजवान होते हैं, जो कड़ी मेहनत भी कर सकते हैं।

हमारी शिक्षण-संस्था को, जिसमें अधिकतर छोटे बालक ही पढ़ते हैं, उद्योग-धन्धे के सिवाय दूसरे विषय भी सिखाने पड़ते हैं। ऐसी अवस्था में संभव है कि वह स्वावलम्बी न बन सके। लेकिन अभी तो इस विचार की पूरी-पूरी आज़माइश भी नहीं हुई है। यदि हम अपने छात्रों को अधिक निपुणता के साथ दस्तकारी सिखा सकें, तो संभव है, हमारी आमदनी भी बढ़े, और शायद आशातीत बढ़े! स्वावलम्बन को घड़ी भर भूल कर भी, एक बात है, जो मैं पूरे विश्वास के साथ कह सकता हूँ। अपने विद्यालय में जो थोड़ा अनुभव पिछले दिनों हमें हुआ है, उससे हमने देखा है कि आज हमारे छात्र पहले से ज्यादा फुर्तीले, ज्यादा खुश-मिज़ाज और ज्यादा तन्दुरुस्त हैं। शिक्षा की दृष्टि से तो इस चीज़ की उपयोगिता में अब रंच-मात्र भी सन्देह को स्थान नहीं है।

सरकार का यह कर्त्तव्य होना चाहिए कि स्कूलों में जो चीज़ें तैयार हों, उनकी बिक्री का वह ठीक-ठीक प्रबन्ध करे। शिक्षकों से यह आशा नहीं रक्खी जा सकती, कि वे इस ओर भी ध्यान दें। अगर तैयार माल की बिक्री उचित दामों पर करानी है, तो इसका प्रबन्ध राज्य द्वारा ही होना चाहिए। यदि स्वावलम्बन के इस विचार को अमली रूप देना है, तो हमें भगीरथ काम करना होगा, ख़ासकर शुरू-शुरू में। सबसे पहले तो हमें ऐसे शिक्षकों का जत्था तैयार करना होगा, जिन्हें इस योजना में श्रद्धा है, और जो खुद भी कारीगरी या मेहनत-मजूरी का काम करना चाहते हैं। सच्चे, श्रद्धावान और उत्साही शिक्षकों के अभाव में शिक्षा की कोई भी योजना कभी सफल नहीं हो सकती। अतएव सबसे पहली चीज़, जो हमें करनी होगी, यह होगी कि हम सच्चे शिक्षक तैयार करें।

अन्त में, दो शब्द मैं अध्यापक शाह की कठिनाइयों पर कहा चाहता हूँ। उनका ख़याल है कि स्कूलों में जो चीज़ें तैयार होंगी, वे बाज़ार में स्पर्द्धा पैदा करेंगी और इससे उन-उन धन्धों के कारीगरों की बड़ी हानि होगी। उनका यह भी ख़याल है कि जबतक हम देश में विदेशी माल का आना बिलकुल नहीं रोक देते हैं, तबतक इस

योजना के कारण हमारे ये पेशेदार बुरी तरह नुकसान में रहेंगे। मेरे विचार में, इस पर दूसरी दृष्टि से भी सोचा जा सकता है, और शायद वही सच्ची दृष्टि भी है। सवाल यह है कि क्यों इतनी विदेशी चीज़ें हमारे देश में आती हैं, और क्या वजह है कि हमारे देशी कारीगर उनके मुकाबले में टिक नहीं सकते हैं? क्या हमारे कारीगरों की अक्षमता ही इसका कारण नहीं है? तो फिर अपने कारीगरों की इस अक्षमता या अयोग्यता को दूर करने का इससे बेहतर और क्या तरीका हो सकता है कि बचपन ही से स्कूलों में उन्हें इसकी ठीक-ठीक तालीम दी जाय?

: ७ :

फिर हरिजन-सेवक-संघ, दिल्ली के हरिजन-उद्योगालय के संचालक अध्यापक श्री नारायण मलकानी ने अध्यापक शाह की कुछ शंकाओं का उत्तर देते हुए नीचे लिखा भाषण किया :

मेरे विचार में शिक्षा को स्वावलम्बी बनाने के बारे में प्रोफेसर शाह ने जो आशंकायें प्रकट की हैं, वे अतिशयोक्तिपूर्ण हैं। उन्होंने अपने भाषण में इस बात पर ज़रूरत से ज़्यादा ज़ोर दिया है कि नई योजना के अनुसार हमारे विद्यार्थी पाठशालाओं में रहते हुए बाज़ार के लिए जो माल तैयार करेंगे, उसके कारण सर्व-साधारण कारीगरों के माल के साथ उनकी ख़ासी स्पर्धा होने लगेगी। मेरे ख़याल में, बाज़ार के लिए माल तैयार करने की अपेक्षा सेवा की दृष्टि ज्यादा महत्त्व रखती है। नई योजना के अनुसार प्रत्येक पाठशाला का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व होना चाहिए। और कपड़े, जूते, साबुन, फर्नीचर वगैरा विद्यार्थियों की ज़रूरत का सारा सामान पाठशाला ही में तैयार होना चाहिए। छात्रों को इतनी सहूलियत देनी चाहिए, कि वे अपने घरों से कच्चा माल लायें और पाठशाला में आकर अपने परिवारवालों के लिए, ज़रूरत के अनुसार, उसका पक्का माल तैयार करें। पाठशाला के छात्रों को गाँवों की पुनर्रचना के कामों में, जैसे कुँआ खोदने, सड़क बनाने और गड्ढे आदि तैयार करने में सहायता करनी चाहिए; इस

सारे काम के दाम लगाये जाने चाहिएँ; और छात्रों के काम के हिसाब में उसका जमा-खर्च होना चाहिए। इससे बाज़ार में उनके काम और माल को बाज़ार भाव से खरीदने की ज़रूरत न पड़ेगी।

लेकिन सच्ची मुश्किल, जिसका अँदेशा मुझको है, तब खड़ी होगी, जब हमारे छात्र पेशेदार बनकर अपने गुज़र-बसर के लिए कमाने लगेंगे। इसके लिए जबतक किसानों की हालत नहीं सुधरेगी, तबतक बाज़ार के अभाव में, देहाती उद्योग-धन्धों की तरक्की में बाधा पड़ेगी।

मेरी एक सूचना यह भी है कि महात्माजी की योजना को सफल बनाने के लिए ज़रूरी होगा कि पहले सुयोग्य शिक्षकों को तैयार करनेवाले ऐसे शिक्षा-केन्द्र खोले जायँ, जहाँ शिक्षा और कारीगरी दोनों का समन्वय करना सिखाया जाय। साथ ही यह भी ज़रूरी होगा कि उपयोगी पाठ्य-पुस्तकें तैयार करने के लिए कमेटियाँ बैठाई जायँ।

: ८ :

आपके बाद भावनगर (काठियावाड़) की श्री दक्षिणामूर्ति संस्था के संस्थापक और संचालक **श्री नानाभाई** (नृसिंहप्रसाद भट्ट) ने योजना का समर्थन करते हुए अपनी कुछ सूचनाओं के साथ नीचे लिखा भाषण गुजराती में किया :

उद्योग को केन्द्र में रखकर शिक्षा देने की जो योजना पूज्य बापू ने हमारे सामने रक्खी है, दक्षिणामूर्ति के हम सब कार्यकर्ता उसका अभिनन्दन करते हैं। हमारा यह निश्चित विश्वास है कि यह योजना शिक्षा के समग्र क्षेत्र में भारी परिवर्तन कर देगी। यह भी स्पष्ट है कि आज से पचास वर्ष बाद के जिस भारतवर्ष की हम कल्पना करते हैं, उस भारत की सन्तानों को पैदा करने का हेतु इस योजना के गर्भ में है।

इस सिलसिले में एक बात की ओर मैं आप सबका ध्यान खींचना चाहता हूँ। यहाँ जो भाषण अबतक हुए हैं, उनकी कुछ ऐसी ध्वनि मुझे मालूम हुई है कि मोण्टी-

सोरी और किण्डरगार्टन आदि पद्धतियाँ हमारे लिए बेकार हैं। मैं इसकी बहस में आज पड़ना नहीं चाहता। लेकिन मेरा निश्चित विश्वास है कि प्राथमिक शिक्षा शुरू होने से पहले के वर्षों में यदि हम इन्द्रियों की शिक्षा का आयोजन कर सकेंगे, तो बापू की योजना के लिए हमारे बालकों की इन्द्रियाँ बहुत-कुछ तैयार रहेंगी। इसके लिए ज्यादा खर्च की भी जरूरत नहीं है। दक्षिणामूर्ति बहुत थोड़े खर्च में भी बालक्रीड़ांगणों के द्वारा इसका प्रयोग कर चुकी है। आज जब कि गाँवों में नई शिक्षा का श्रीगणेश होने जा रहा है, इस प्राथमिक से भी प्राथमिक शिक्षा की ओर इशारा-भर करने में मुझे आनन्द होता है।

मैं समझता हूँ कि बापू ने अपनी योजना में उद्योग को केन्द्र में रखकर जिन दो नतीजों की ओर संकेत किया है, उनका क्रम, जैसा उन्होंने रक्खा है, उससे उलटा रक्खा जाय, तो ज्यादा अच्छा होगा। उद्योग को केन्द्र में रखने से पाठशालायें शिक्षक के वेतन की दृष्टि से स्वावलम्बी बनेंगी, और उद्योग के आस-पास जिन दूसरे विषयों का स्थान रहेगा, उनके द्वारा बालकों का सर्वांगिण विकास होगा। मेरी समझ में उद्योग को केन्द्र में रखकर दी जानेवाली शिक्षा का प्रधान उद्देश्य बालक का सर्वांगीण विकास ही होना चाहिए। और, आर्थिक स्वावलम्बन उसका आवश्यक परिणाम। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि किसी भी उद्योग को ठीक-ठीक सिखाया जाय, तो उससे आमदनी होनी ही चाहिए। लेकिन यदि आमदनी की दृष्टि को आवश्यकता से अधिक महत्त्व दिया जाय और शिक्षक के वेतन का उससे सीधा सम्बन्ध रक्खा जाय, तो अपना वेतन निकलवाने के विचार में शिक्षक विद्यार्थियों से बेगार कराने लगेगा। और जहाँ ऐसे शिक्षक होंगे, शिक्षा की दृष्टि से वह पाठशाला, पाठशाला न रह जायगी। हम तो पाठशालाओं द्वारा शिक्षा देना चाहते हैं। इसीलिए मैं समझता हूँ कि बालकों के सर्वांगीण विकास का घात करके आमदनी या उत्पत्ति पर ज़ोर देना ठीक न होगा। अतएव हमारी इस योजना में शिक्षा-विषयक दृष्टिकोण का स्थान पहला होना चाहिए और आमदनी या उत्पत्ति को गौण स्थान मिलना चाहिए।

मैं तो यह भी अनुभव करता हूँ कि वैसे देखने में यह परिवर्तन छोटा मालूम होता है, किन्तु शिक्षा के और राष्ट्र-जीवन के क्षेत्र में यह बड़े महत्त्व का परिवर्तन है। अतः इसका प्रयोग करने के लिए निष्णातों को आगे आना चाहिए, और जो कुछ बापू कहते हैं, उसे प्रयोगों द्वारा सिद्ध करके दिखाना चाहिए।

राज्य या सरकार का मदरसों में तैयार होनेवाली चीज़ों को ख़रीद लेना, एक ऐसी चीज़ है, जो मेरे विचार में, अभी छोटी मालूम होते हुए भी, अपने गर्भ में महान् परिवर्तन के बीज रखती है। इसीलिए मैं तो यह भी मानता हूँ कि इस सारी योजना में हम भावी भारत के निर्माण के नये-नये सपने देख सकते हैं।

बापू! इससे अधिक मैं और क्या कहूँ? प्रभु हमें इस पथ पर चलने की शक्ति प्रदान करे!

: ९ :

फिर बम्बई सरकार के प्रधान मंत्री माननीय **श्री. बाळ गंगाधर खेर** ने अपने प्रान्त की स्थिति पर प्रकाश डालते हुए योजना के सम्बन्ध में नीचे लिखा भाषण किया :

मैं यहाँ कुछ सुनने और सीखने के लिए आया हूँ। परन्तु बापूजी की आज्ञा हुई है कि मैं भी कुछ कहूँ। कल से यहाँ इस विषय की चर्चा चल रही है कि देहात में किस किस्म की शिक्षा होनी चाहिए। कल रात को जो कमेटी बैठी थी, उसमें मैंने काफ़ी हिस्सा लिया था और अपनी राय भी दी थी। उस कमेटी में जो कुछ तय हुआ है, उससे मैं सहमत हूँ।

कल यह कहा गया था कि यह योजना नई नहीं है। पर जिस ढंग से इसकी चर्चा हो रही है, उससे मुझे तो यह बिलकुल नई मालूम होती है; यानी यों कहिये कि इससे युग-परिवर्तन हो रहा है। यदि मैं इसे एक वाक्य में कहूँ, तो यों कहूँगा कि जिस तरह राजनैतिक क्षेत्र में अहिंसा का प्रयोग असहयोग के द्वारा किया गया था, उसी तरह शिक्षा के क्षेत्र में अहिंसा का प्रयोग इस नई योजना के द्वारा हो रहा है।

मैंने यहाँ आकर चार बातें सीखी हैं। पहली यह, कि धंधे के मारफ़त शिक्षा दी जाय। दूसरी यह, कि शिक्षा-पद्धति स्वावलम्बी हो। तीसरी यह, कि शिक्षा राष्ट्र के सब

बालकों को दी जाय, अर्थात् 'युनिवर्सल' हो। चौथी यह, कि शिक्षा पाये हुए सब लड़कों को राज्य कुछ न कुछ काम दे। राज्य या सरकार का कर्त्तव्य है कि वह उन्हें बेकार न रहने दे। इन चार सिद्धान्तों को मैंने बापूजी के भाषण से सीखा है। और मेरे विचार में ये क्रान्तिकारी सिद्धान्त हैं।

मैं आपसे कहूँ कि इस नवीन शिक्षा-पद्धति का प्रयोग सबसे पहले तो असल में मुझी पर किया गया है। चन्द महिनों या सप्ताहों से मेरे कन्धों पर शिक्षा-मंत्री का बोझ आ गया है। अब मेरी भलाई इसीमें है कि मैं उसको अच्छी तरह उठा लूँ। इसलिए मुझ पर तो यह प्रयोग हो ही रहा है। फिर भी चूँकि बापूजी की आज्ञा है, इसलिए मैं अपने अनुभव की दो-चार बातें कहता हूँ।

हमारे प्रान्त में एक गाँव है, जहाँ कुछ लोग यू० पी० वग़ैरा से आकर बसे हैं। वे चर्मकार का धन्धा करते हैं। उस गाँव में क़रीब एक हज़ार आदमियों की उनकी बस्ती है। वे अपने को खटिक कहते हैं। हम तो खटिक से मतलब कसाई का समझते हैं, पर वे लोग कसाई नहीं हैं। वे बकरी या भेड़ का चमड़ा लेकर उसको कमाते हैं, और टोपी वग़ैरा में जो पट्टियाँ लगती हैं, उन्हें बनाने का काम करते हैं। जब मैंने देखा कि उस गाँव में कोई स्कूल नहीं है, तो वहाँ एक स्कूल खोल दिया। उसमें कुछ लड़के और लड़कियाँ पढ़ने के लिए आने लगीं, जिनकी उम्र ५ साल से १४ साल तक थी। मैंने मामूली तौर पर शिक्षा देना प्रारम्भ कर दिया। परन्तु मुझे मालूम हुआ कि लड़के उसमें ज्यादा दिलचस्पी नहीं लेते हैं। सिर्फ़ आकर बैठ जाते हैं। शायद इसलिए कि मैंने स्कूल के लिए वहाँ जो झोंपड़ी बनाई थी, वह उनके घरों से काफ़ी अच्छी थी। फिर, स्कूल में रोज़ एक बहन भी आती थीं, जो लड़कों को साफ़-सुथरा रखतीं और उनको नहला भी देती थीं। इसलिए मा-बाप अपने लड़कों को भेज देते थे। मैंने उन लड़कों के कपड़े भी बदलवा दिये, यानी नये बनवाकर उनको दे दिये। परन्तु अनुभव ने यह बतलाया कि यह अच्छा नहीं हुआ। मैं तुरन्त ही इस नतीजे पर पहुँच गया कि जो शिक्षा मैं उन्हें दे रहा था, उससे तो उनके और भी बेकार बनने की आशंका थी। अतएव कोई ऐसा कार्य करना चाहिए, जिससे वे आगे बढ़ें और स्वावलम्बी बन जायँ।

मैंने सोचा कि वे लोग जो चमड़ा कमाते हैं, उसीमें उनको आगे बढ़ाना चाहिए। उन दिनों वे मिट्टी और छाल डाल कर चमड़ा कमाते थे। परन्तु ऐसा करने से चमड़ा

ज्यादा बदबूदार हो जाता है। अतः मैंने उन्हें बतलाया कि चूना डालकर चमड़ा कमाओ। इसपर उन्होंने कहा कि हम चूना नहीं डाल सकते। चूने का काम तो चमार करते हैं। अगर हम ऐसा करेंगे, तो बिरादरी से बाहर कर दिये जायेंगे। वे लोग जूते भी नहीं बनाते, क्योंकि जूते तो चमार बनाते हैं, और वे तो ख़टिक हैं ! *

इस विषय में मैंने अपने एक मित्र से, जो बम्बई-सरकार के 'टैनिंग एक्सपर्ट' हैं, पूछा कि क्या करना चाहिए। इस तरह तो लड़के इसमें रस नहीं लेते। उन्होंनें मेरी बात के जवाब में तुरन्त वहाँ एक झोंपड़ी बनाई और रोज़ आकर काम करने और लड़कों को चर्मविद्या की शिक्षा देने लगे। बस, फिर तो उन लड़कों को उसमें इतना रस आने लगा कि जिन लड़कों के माता-पिता पहले उन्हें हमारे स्कूल में भेजने के खिलाफ़ थे, वे खुद अपने लड़कों और रिश्तेदारों के साथ वहाँ इस क़दर आने लगे, कि सारा स्कूल उनसे भर जाता था। फिर, धीरे-धीरे वे लोग चूना डालकर चमड़े को साफ़ भी करने लगे, और चूना डालने से जाति-भ्रष्ट हो जाने का डर भी न रहा, उलटे यह ख़याल रहने लगा कि चमड़ा अधिक से अधिक साफ़ कैसे बने !

एक बार उनके सामने बाघ का एक चमड़ा आया। वे कहने लगे : हम तो इसे छूयेंगे भी नहीं। परन्तु जब उनसे यह कहा गया कि तुम्हारा शिक्षक, जो ब्राह्मण है, वह तो इसे छूता है, फिर तुम्हें छूने में क्या हर्ज़ है ? तो इसपर वे कुछ सहमे और बाद में धीरे-धीरे बाघ के चमड़े से भी काम लेने लगे।

अब तो हमारे इस कार्य में वहाँ के ६-६ वर्ष के बच्चे भी रस लेते हैं। इस पद्धति के कारण अब उस शाला के खर्च में उनके कामों से काफ़ी मदद मिलने लगी है। उसमें लड़के और शिक्षक सभी काम करते हैं।

---

* उनका यह खटिक नाम इस तरह पड़ा बताते हैं, कि किसीने उनके किसी पुरखा से पूछा : तुम्हारा काम तो ठीक है न ? उसने कहा : हाँ, ठीक है। मगर सुननेवाले ने खटिक सुनकर उसको खटिक कह दिया। इस तरह उनकी जाति का नाम ही खटिक पड़ गया !

जब शिक्षा-मंत्री के नाते मुझे यह कहा गया कि प्रान्त में शिक्षा अनिवार्य, मुफ्त और 'युनिवर्सल' या व्यापक कर दी जाय, तो मैंने विचार किया कि जिस तरह आज प्राथमिक शिक्षा दी जा रही है, उसी तरह आगे भी दी गई, तो उसके लिए तीन करोड़ रुपये खर्च करने होंगे। शिक्षा-सम्बन्धी इस एक ही प्रस्ताव पर हमारी धारा-सभा के अन्दर तीन दिन तक बहस चलती रही। उन्होंने इस बात पर ज़ोर दिया कि तुम शिक्षा के अन्दर ये तीन करोड़ रुपये डाल दो। मगर मैंने सोचा कि इस तरह तीन करोड़ रुपया खर्च कर देना, खुद लोगों के लिए ही नुकसानदेह होगा। इसलिए मैंने यह जवाब दिया कि जबतक मैं इस बात को अच्छी तरह समझ न लूँगा, तबतक कम-से-कम मैं तो, इस मद में ५) रु. भी ज्यादा खर्च न करूँगा। मैंने यह भी कहा कि स्टेट का जो फ़र्ज़ होगा, उसे मैं बराबर बजाऊँगा।

मैं विश्वास के साथ कहता हूँ कि हमारा काम पैसे के अभाव में अटक नहीं सकता। हमारे सामने कोई तरकीब होनी चाहिए। मैं इस दिशा में सोच ही रहा था कि इतने में महात्माजी के खयालात हमारे सामने आने लगे। मुझे यह भी पता लगा कि चन्द आदमी मेरे ही प्रान्त में इसका प्रयोग भी कर रहे हैं। पूना के नज़दीक एक गाँव में ७ साल से यह काम चल रहा है। वे लोग पहले दर्जे से सातवें दर्जे तक पढ़ाते हैं।

एक बात और है, और वह यह कि पूना ज़िले के कन्हाड़ गाँव में एक इन्सपेक्टर साहब हैं। वे रिटायर्ड हैं। ३० साल तक उन्होंने नौकरी की है। वे भी एक संस्था चला रहे हैं। मेरे पास समय न होने से मैं उनकी संस्था तो नहीं देख सका, किन्तु उनका एक पत्र मुझे मिल गया है। उसे मैं आप लोगों के सामने रख देना चाहता हूँ।

उनके पास ६४ लड़के हैं। वे पहले से पाँचवे दर्जे तक की शिक्षा देते हैं। उनका अपना एक मकान भी है। कुछ खेती है, जिससे वे छात्रों को प्रकृति का ज्ञान करा देते हैं। उनके पास कुल दो शिक्षक हैं। वे अपने छात्रों से चॉक यानी खड़िया मिट्टी और रबड़ बनाने का काम करवाते हैं, और इस तरह उन्हें स्वाश्रयी बनने की शिक्षा देते हैं। स्वाश्रयी एक ऐसा शब्द है, जिसका अर्थ इस समय मैं केवल एक ही दृष्टिकोण से करता हूँ। एक शिक्षक जो शहर में रह चुका है, उसकी सारी ज़रूरतों को पूरा करने के लिए जितने रुपयों की आवश्यकता है, क्या उतने आप उसे देंगे? मेरे विचार में आज यह सम्भव नहीं है। हाँ, इस विषय में श्री विनोबाजी ने जो कुछ कहा है, वह तभी हो

सकता है, जब उनके और काका साहब जैसे सेवाभावी शिक्षक हमें मिलें। यदि ऐसे शिक्षक मिल जायँ, तो मैं दावे के साथ कहता हूँ, कि एक साल के अन्दर ही सारी शिक्षा स्वावलम्बी बनाई जा सकती है। परन्तु खेद है कि आज ऐसे आदर्श शिक्षक सब जगह सुलभ नहीं हैं।

सतारा में एक पाठशाला चलती है। उसमें क़रीब २०० लड़के पढ़ते हैं। और हरएक लड़के के पीछे २॥=) खर्च आता है। यानी ज्यादा-से-ज्यादा एक लड़के के पीछे माहवार ३) रु० और कम-से-कम २॥) खर्च होते हैं। इसमें उनका रहना, खाना-पीना, सब शामिल है। मगर यह तो एक आदर्श की बात हुई। यदि सर्वत्र ऐसे सेवाभावी शिक्षक मिल जायँ, जो अपने खर्च के लिए केवल दो, ढाई या पाँच रुपये तक लेकर सेवा करने को तैयार हों, तो मैं समझता हूँ, कि हमारा काम बहुत ही सरल हो जाय।

महात्माजी ने तो निडर होकर कल यह कह दिया कि जो शिक्षक सात वर्ष तक लड़कों को अपने हाथ में पाकर भी उनको स्वाश्रयी शिक्षा नहीं दे सकता, वह शिक्षक ही निकम्मा है। इसी तरह डर है कि कहीं वे मुझे भी यह न कह दें कि जो मंत्री शिक्षा की इस नई योजना को नहीं चला सकते, वे मंत्री ही निकम्मे हैं! इसलिए इस योजना से सहमत होते हुए भी मैं चुप रहकर केवल सुनना चाहता था। क्योंकि एक बार अपनी सम्मति प्रकट करते ही लोग कहेंगे कि तुम मंत्री हो, और इससे सहमत हो, तो फिर इसका अमल क्यों नहीं करवाते ?

अब मैं फिर अपनी कन्हाडवाली शाला की बात पर आता हूँ। इस शाला के पास इसकी अपनी ६॥। एकड़ ज़मीन है! जिसमें २५०) रु० तो फल की खेती से मिल जाते हैं, ४५०) सिंचाईवाली ज़मीन से और ५०) 'ड्राय फार्मिंग' से। इस प्रकार साल में कुल ७५०) रु० की आमदनी होती है। इसमें से ५०) ज़मीन किराये के और १४) ज़मीन महसूल के देने पड़ते हैं। शिक्षक का खर्च 'बलूते' से चल जाता है। 'बलूते' का मतलब शायद आप न समझे होंगे? बलूता एक प्रथा है, जिसके अनुसार गाँव का प्रत्येक परिवार ग्राम-शिक्षक का खर्च चलाने को हर साल नाज आदि चीज़ें देता है। गाँवों में नाई, धोबी, तम्बोली, बढ़ई आदि सभी इसी तरह अपनी जीविका पाते हैं, और शिक्षक का खर्च भी इस ढंग से आसानी के साथ निकल आता है।

हमारे प्रान्त में एक मिशनरी स्कूल भी है। उसके आचार्य का एक पत्र मुझे मिला है। उसको देखने से पता चलता है कि उनका आधा खर्च इन उद्योग-धंधों की कमाई से निकल जाता है, और छात्र बड़ी दिलचस्पी से सारा काम करते हैं। इस प्रकार इन चन्द हफ्तों या महीनों के अन्दर मैंने जो कुछ देखा-सुना है, उससे आशा होती है कि यह योजना अवश्य सफल होगी।

अभी श्री रविशंकरजी शुक्ल ने यह बतलाया कि पहले इसका प्रयोग करके देखना होगा। यही उपयुक्त भी है। इसका सफल प्रयोग कर लेने के बाद ही इस योजना को देश भर में चलाना अच्छा होगा। यह योजना ऐसी नहीं है कि महज़ क़ानून और हुक्म के बल से शुरू कर दी जाय। क्योंकि पहले देश के किसानों को हमें समझाना होगा कि यह योजना हमारे लाभ की नहीं, किन्तु उनके और उनके बालकों के लाभ की है।

कल कमेटी ने जो कुछ तय किया है, उससे मैं हर तरह सहमत हूँ। कल माध्यमिक पढ़ाई के बाद तीन प्रकार के स्कूल बनाये जाने को कहा गया था। पर मैं तो ५ प्रकार के स्कूल बनाने के पक्ष में सोचता हूँ। इसके लिए मैट्रिक का बन्धन तो हमें हटा ही देना होगा। मैट्रिक की शर्त तो उन्हींके लिए होगी, जो आगे युनिवर्सिटी में जानेवाले हैं। अन्त में, मैं आशा करता हूँ कि यह योजना अच्छी तरह चल सकेगी और सफल होगी।

: १० :

आपके बाद हर्कीमजी हाईस्कूल, बोर्डी के आचार्य श्री भिसे ने मराठी में अपनी संस्था के स्वावलम्बन-सम्बन्धी प्रयोगों का वर्णन करते हुए योजना के समर्थन में नीचे लिखे आशय का भाषण किया, जिसका सारांश श्री काका साहब कालेलकर ने हिन्दी में सुनाया :

मेरे विचार में शिक्षा और अर्थशास्त्र दोनों की दृष्टि से महात्माजी का दृष्टि-कोण बिलकुल सही है। मैं मानता हूँ कि नई प्रस्तावित योजना के अनुसार देहात में शिक्षा

को स्वावलम्बी बनाया जा सकता है । पिछले दस बरस में मुझे जो भी अनुभव हुआ है, उसके बलपर मैं कह सकता हूँ कि शिक्षा के मौजूदा स्टैण्डर्ड को क़ायम रखते हुए भी हम अपने छात्रों को उद्योग-धन्धों की और दस्तकारी की काफ़ी तालीम दे सकते हैं। अपने विद्यालय में तो आज भी हम गणित और भूगोल की शिक्षा कृषि को केन्द्र में रखकर ही देते हैं।

मेरी तो निश्चित राय है कि हमारी मौजूदा शिक्षा-प्रणाली, जिसका हेतु छात्रों को सिर्फ़ मैट्रिक्युलेशन के लिए तैयार-भर करना है, बिलकुल निकम्मी है । हमारे बम्बई प्रान्त में आज हालत यह है कि शहरों में रहनेवाले हर १०० विद्यार्थियों में क़रीब ८६, और देहात के हर १०० में क़रीब ९४ विद्यार्थी ऐसे हैं, जो मैट्रिक से पहले ही पढ़ना छोड़ देते हैं ।

इसलिए मेरा निवेदन यह है कि गाँवों में शिक्षा को स्वावलम्बी बनाने की दृष्टि से कृषि-सम्बन्धी कार्य के लिए काफ़ी और उपयुक्त ज़मीनें मंजूर की जायँ, और विद्यालय में खेती के साथ-साथ कताई, बुनाई वग़ैरा दूसरे उद्योग भी सिखाये जायँ ।

: ११ :

फिर संयुक्त प्रान्त के शिक्षा-मंत्री माननीय पण्डित प्यारेलालजी शर्मा ने प्रस्तावित योजना के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त की और अपने प्रान्त की स्थिति पर प्रकाश डालते हुए नीचे लिखा भाषण किया :

महात्माजी की तजवीज़ को मैंने अपने भरसक समझने की कोशिश की है । उन्होंने फिलहाल सिर्फ़ प्राइमरी तालीम के सवाल को अपने हाथ में लिया है । मगर कुछ लोगों की, जो मौजूदा तालीम में तब्दीली चाहते हैं, यह शिकायत मालूम होती है कि इसमें शुरू से अख़ीर तक पूरी तालीम की तब्दीली का ज़िक्र नहीं है । शिकायत तो ठीक है; मगर यह ज़रूरी नहीं कि सब सवालों को हम एक ही साथ हल करें । ऐसा कर भी तो नहीं सकते ।

मेरे सूबे में, यानी संयुक्त प्रान्त में, सिर्फ़ ६ फ़ीसदी पढ़े-लिखे लोग हैं। बाक़ी ९४ फ़ीसदी लोग बिलकुल अनपढ़ हैं। मेरा ख़याल है कि इस तजवीज़ से हम उनको बहुत फ़ायदा पहुँचा सकेंगे। इसकी सबसे बड़ी खूबी यह है कि दस्तकारी के ज़रिये, हाथ की करामात से, सारी तालीम दी जायगी। नतीजा यह होगा कि जो बच्चे ऐसी तालीम पाकर निकलेंगे, उन्हें आज के बी. ए. एम. ए. पास नौजवानों की तरह नौकरी के लिए सरकारी दफ्तरों में दरख्वास्तें न देनी पड़ेंगी। वे इस क़ाबिल होंगे कि अपने पैरों खड़े रहें। अगर इस तजवीज़ से मेरे सूबे के ९४ फ़ीसदी अनपढ़ों में से ५४ फ़ीसदी भी पढ़-लिख कर तैयार हो गये और आदमी बन सके, तो इससे बेहतर तजवीज़ और क्या हो सकती है?

हमारे सूबे में ऐसे कई प्राइवेट् स्कूल हैं, जो अपने खर्च के लिए सरकारी मदद लेना बिलकुल पसन्द नहीं करते। वे उद्योग-धन्धों के ज़रिये ही अपना खर्च चलाने की उम्मीद रखते हैं। मैं भी मानता हूँ कि इस तरह बहुत-कुछ खर्च निकल सकता है, और निकलना ही चाहिए। यू० पी० में ऐसे सरकारी मदरसे भी हैं, जिनमें सिर्फ़ दस्तकारी की तालीम दी जाती है, और ऐसे भी हैं, जिनमें सिर्फ़ काश्तकारी सिखाई जाती है। मगर ये महकमा तालीम के मातहत नहीं हैं। ये सब महकमा तिज़ारत और महकमा काश्तकारी की देख-रेख में काम करते हैं। महकमे तालीम के हाथ में तो सिर्फ़ उस तालीम का ज़िम्मा है, जो हमारे नौजवानों को बेकार बनाती है, और इस वक्त अपने सूबे में इस 'महकमे बेकारी' का मिनिस्टर मैं हूँ। इसलिए मेरे सामने तो यह एक बहुत ही विकट और बड़ा सवाल है। इसमें तो कोई शक नहीं कि आज की हालत से ऊपर उठने के लिए हमें मौजूदा तालीम के नक़्शे को ही बदलना होगा। और, उसे बदलने का बेहतरीन तरीक़ा यही मालूम होता है, कि उसे जड़ से बदला जाय, यानी प्राइमरी तालीम से तब्दीली शुरू हो। इसपर ग़ौर करने और हिम्मत के साथ महात्माजी की इस तजवीज़ को अमल में लाने के लिए, मैं ज़रूरी समझता हूँ, कि सातों कांग्रेसी सूबों के मिनिस्टर एक जगह बैठकर मिलें और बड़े पैमाने पर इसे चलाने की तरक़ीब सोचें।

: १२ :

आपके बाद मद्रास के शिक्षा-मंत्री माननीय श्री सुब्बारायन् ने कुछ अंशों में अध्यापक शाह की राय से सहमत होते हुए भी योजना के समर्थन में नीचे लिखा भाषण अंग्रेज़ी में किया :

मेरी राय में हममें से हरएक को महात्माजी के इस कथन से सहमत होना चाहिए कि किसी भी उद्योग या दस्तकारी के द्वारा दी जानेवाली शिक्षा हमारे देश की समस्या को हल करने में सहायक होगी; क्योंकि अभी तक हमारे यहाँ शिक्षा का सम्बन्ध उद्योग-धन्धों से जोड़ा ही नहीं गया है। नतीजा इसका यह हुआ है कि शिक्षा प्राप्त कर लेने के बाद हमारे छात्र वापस अपने गाँवों में जाकर अपना पुश्तैनी या ग्राम-सुलभ धन्धा करने योग्य नहीं रह जाते। इसीलिए महात्माजी की यह सूचना है कि उद्योग द्वारा जो शिक्षा दी जायगी, वह वातावरण के साथ हमारी शिक्षा को जोड़ देगी। अतएव प्राथमिक शिक्षा का पुनःसंगठन करते समय हरएक सरकार को इसका प्रयोग करने के लिए तैयार रहना चाहिए। प्राथमिक अवस्था में शिक्षा स्वावलम्बी हो सकती है या नहीं, यह एक बहुत कठिन सवाल है। इसलिए शुरू में तो इसका कुछ मदरसों में प्रयोग ही किया जा सकता है। जहाँ तक मेरा और मेरी सरकार का सम्बन्ध है, एक सरकार के नाते, हम कुछ मदरसों में इसका प्रयोग करने को तैयार हैं और रहेंगे। इसके लिए ज़रूरी यह है कि सबसे पहले, और जहाँ तक हो, जल्दी से जल्दी, नये पाठ्यक्रम के और नई पद्धति के अनुसार पढ़ानेवाले तालीमयाफ्ता शिक्षकों के सवाल को हल किया जाय; और हमारे मौजूदा ट्रेनिंग स्कूलों में इस बात का प्रबन्ध किया जाय कि वे अपने यहाँ ऐसे शिक्षक तैयार करें, जो दस्तकारी द्वारा शिक्षा देने के सवाल को समझ सकते हों। अगर इस योजना के अनुसार शिक्षा आधी भी स्वावलम्बी हो सकी, तो उससे देश की एक बड़ी समस्या हल हो जायगी, और इसके लिए देश महात्माजी का हमेशा आभारी रहेगा। इस प्रश्न पर विचार करने के लिए **डॉ. ज़ाकिर हुसैन** के सभापतित्व में जो कमेटी क़ायम हो रही है, उसकी मैं हार्दिक सफलता चाहता हूँ, और आशा करता हूँ कि वे जल्दी ही एक ऐसी रिपोर्ट तैयार करेंगे, जिस पर प्रान्तीय सरकारों के मंत्री भी विचार कर सकें, और हम सब मिल कर एक ऐसे नतीजे पर पहुँच सकें, जिससे हमारे देश में अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा की समस्या के हल होने में मदद पहुँचे।

: १३ :

अन्त में उड़ीसा के प्रधान मंत्री श्री विश्वनाथदास ने अंग्रेज़ी में अपने प्रान्त की ग़रीबी का वर्णन करते हुए प्रस्तावित योजना का हार्दिक स्वागत किया और उसकी आवश्यकता पर नीचे लिखे विचार प्रकट किये :

वह शिक्षा, शिक्षा ही नहीं, जो राष्ट्रीय और उपयोगी नहीं। आज हमारे मदरसों में जिस तरीक़े से शिक्षा दी जाती है, वह न यह है, न वह है; बल्कि पढ़ाई का एक ऐसा तरीक़ा है जो स्कूलों और कॉलेजों में पढ़नेवाले हमारे बालकों और नौजवानों की सृजन-शक्ति को नष्ट कर देता है, प्रतिभा को कुचल देता है। यही कारण है कि आज आचार्य प्रफुल्लचंद्रराय के शब्दों में, हम सब ऐसे नक्क़ाल हैं, जिनमें मौलिकता का छींटा भी नहीं! जिस दिन से मैंने अपने प्रान्त में शासन की बागडोर सँभाली है, मैं बराबर इस दुःखद परिस्थिति का अनुभव करता रहा हूँ, और इसे बदलने की चिन्ता में हूँ। मैं उस प्रभु को धन्यवाद देता हूँ, कि उसने महात्माजी के द्वारा परिवर्तन की यह दिशा हमें सुझाई। इस सम्बन्ध में हमारे उत्कल प्रान्त की जो कठिनाइयाँ हैं, वे खासतौर पर दिल को दहलानेवाली हैं। उत्कल प्रान्त पर अपने आस पास के तीन प्रान्तों की संस्कृति का प्रभाव है; और इन तीनों की तीन धारायें वहाँ काम कर रही हैं। इसीलिए आज मेरे सामने शिक्षा-सम्बन्धी भी तीन अलग-अलग धारायें, तीन-तीन परम्परायें और पाठ्य-क्रम हैं। आप लोगों के सामने मैं खुले दिल से इस बात को मंजूर कर लेना चाहता हूँ कि इनमें से कोई भी इस योग्य नहीं है कि उन तमाम शर्तों को पूरा कर सके, जो हमारे बच्चों की तालीम के लिए और हमारे राष्ट्र के निमार्ण के लिए आवश्यक और अनिवार्य हैं। शिक्षा का आदर्श तो यही रहेगा, और रहना चाहिए कि वह अपनी ताक़त से मनुष्य के अन्दर जो कुछ उत्तम है, उसे प्रकट करे, और उसके दिल में नर और नारायण के प्रति प्रेम पैदा करे। आजकल की अपनी प्रचलित शिक्षा प्रणाली को जब हम इस आदर्श की कसौटी पर कसते हैं, तो वह ज़रा भी खरी नहीं उतरती।

यहाँ शिकायत के तौर पर हमसे यह कहा गया है, कि महात्माजी ने शिक्षा-पद्धति को बदलने का जो प्रस्ताव रक्खा है, वह बहुत क्रान्तिकारी है। लेकिन वर्तमान परिस्थिति में मैं तो इस क्रान्ति का स्वागत ही करूँगा। यह महात्माजी का ही सौभाग्य है, कि जब से आये हैं, देश में क्रान्ति पर क्रान्ति कराते रहे हैं। और खूबी यह

है कि जो इनक़िलाब या क्रान्ति महात्माजी की ओर से आती है, वह बम और पिस्तौल की नहीं, सत्य और अहिंसा की होती है। अपने इन हथियारों द्वारा वे हमारी मनोवृत्ति और हमारे सारे दृष्टि-कोण को ही बदल डालते हैं। अबतक इस तरह के व्यापक परिवर्तनों का श्रेय ऐसे महापुरुषों को ही मिला है। अतएव इन परिवर्तनों का क्रान्तिकारी होना बिलकुल स्वाभाविक है। क्योंकि वे न केवल पढ़ाई के ढंग को बदलना चाहते हैं, बल्कि शिक्षा-सम्बन्धी हमारे समस्त विचारों और धारणाओं को बिलकुल नया ही रूप दे देना चाहते हैं। महात्माजी! आपने शिक्षा में जो परिवर्तन सुझाये हैं, वे हमारे देश के लिए वास्तव में बहुत ही उपयोगी हैं, क्योंकि उनसे हमारे बच्चों और नौजवानों में सृजन-शक्ति का विकास होगा। इसलिए अपनी ओर से, और विभिन्न प्रान्तों के सब शिक्षा-मंत्रियों की ओर से, मैं आपको विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि शिक्षा की इस नई कल्पना का, और इसके गर्भ में रही हुई नूतन शिक्षण-प्रणाली का, हम सच्चे दिल से प्रयोग करेंगे और इसे सफल बनाने में अपनी ओर से कोई बात उठा न रक्खेंगे!

अबतक जो चर्चायें यहाँ हुई हैं, उनसे यह साफ़ हो गया है कि यद्यपि अन्त में जाकर एक बड़ी हद तक शिक्षा स्वावलम्बी हो सकेगी, तथापि शुरू-शुरू में हमको उसपर कुछ अधिक ही ख़र्च करना होगा। इसके लिए जितना ख़र्च आवश्यक होगा, उसे प्राप्त करने में हम कोई कसर न रक्खेंगे। मैं जानता हूँ कि हमारा पिछला बजट घाटे का बजट था। लेकिन अकेला पैसा ही हमारी कठिनाइयों को हल नहीं कर सकेगा। जिस तरह की शिक्षा हम अब देना चाहते हैं, उसके लिए बिलकुल नई तर्ज़ की पुस्तकें, नये ढंग के शिक्षक और बिलकुल निराला ही वातावरण आवश्यक है। अतएव मैं महात्माजी से प्रार्थना करूँगा कि वे न केवल विस्तृत पाठ्य-क्रम तैयार करने के लिए, बल्कि नये ढंग की पाठ्य पुस्तकें तैयार करने के लिए भी शिक्षा-शास्त्रियों की छोटी-छोटी कमेटियाँ क़ायम करें। मुझे डर है कि बदली हुई परिस्थिति में हमारे ये मौजूदा शिक्षक बहुत उपयोगी न ठहरेंगे। इनमें कुछ तो ऐसे हैं, जिनको सुधारना, बालू से तेल निकालना है। मेरा यह आशय नहीं है कि उन्हें सुधारने की कोई कोशिश ही न की जाय। मैं मानता हूँ कि उनमें कई ऐसे हैं, जिनका ख़ासा उपयोग हो सकता है; लेकिन इनके लिए भी एक प्रकार की तालीम आवश्यक होगी, जिससे ये अपने को नई परिस्थिति और शिक्षा की नई प्रणाली के अनुकूल बना सकें। एक अर्से से मैं बराबर यह महसूस करता रहा हूँ कि अगर हम अपनी तमाम मौजूदा पाठ्य पुस्तकों को इकट्ठा करके उनमें

आग लगा दें, तो मेरी राय में मुल्क का उससे कोई नुकसान न होगा। मेकॉले और राममोहन राय के ज़माने से आज तक हमारी प्रान्तीय भाषायें भूखों मरी हैं, और उनका निरादर हुआ है। मैं चाहता हूँ कि अब हर चीज़ में नई जान डाली जाय, नया जोश, नई शक्ति पैदा की जाय! मैं सोच ही रहा था कि अपने प्रान्त से विद्वानों का एक डेपुटेशन काँगड़ी के गुरुकुल विश्वविद्यालय में इसलिए भेजूँ कि वह वहाँ जाकर स्थिति का अध्ययन करे और देखे कि क्या हमारे लिए यह ठीक होगा कि हम उनकी पाठ्य पुस्तकों का अनुवाद करायें और अपने यहाँ उनका प्रचार करें। इसलिए महात्माजी की इस महान् कल्पना का मैं स्वागत करता हूँ, और कहता हूँ, कि इसे पाकर अब मैं बहुत हलका हो गया हूँ—सिर से मेरे एक बोझ उतर-सा गया है।

महात्माजी! मैं मानता हूँ, कि मैं अपने कर्तव्य से विमुख होऊँगा, यदि इन बातों के साथ ही इस योजना के सम्बन्ध में मेरी अपनी जो कठिनाइयाँ हैं, मैं आपके सामने न रक्खूँ। आपने पहली बात यह कही है कि शिक्षा स्वावलम्बी होनी चाहिए, और वह बालकों को हाथ के धन्धे द्वारा दी जानी चाहिए। किन्तु अधिकांश में तो यह तभी सम्भव हो सकता है, जब बालक दस बरस या उससे ऊपर का हो। मानना होगा कि सच्ची शिक्षा वह है, जो बालक की आवश्यकताओं का अनुसरण करती है। अगर इस अवस्था में उत्पत्ति की आशा की जायगी, तो मुझे डर है कि यांत्रिक उत्पादन की वेदी पर शिक्षा का बलिदान होने लगेगा। फिर, एक और भी कठिनाई हमारे सामने है, जिसकी हम उपेक्षा नहीं कर सकते। शिक्षक से कहा जायगा कि अपने निर्वाह के लिए उसे विद्यार्थियों की कमाई पर निर्भर रहना होगा। मनुष्य का जैसा स्वभाव है, उसे देखते हुए डर लगता है कि तब हमारा शिक्षक शिक्षा की अपेक्षा उत्पादन की ही ज्यादा चिन्ता करेगा। परिणाम इसका यह हो सकता है कि छात्रों को ज्यादा समय तक काम करना पड़े और माता-पिताओं एवं शिक्षकों के बीच थोड़ी तनातनी पैदा हो जाय! इसलिए बतौर निवेदन के मैं अपनी कठिनाइयाँ आपके सामने पेश-भर करता हूँ।

एक बात और है। मैं जानता हूँ कि आप वर्तमान शिक्षा-प्रणाली को बदलने के लिए कितने उत्सुक और चिन्तित हैं। अपनी ओर से हम भी उतने ही उत्सुक हैं, और चाहते हैं कि आपकी इस नई योजना पर ईमानदारी के साथ अमल करें। अतएव महात्माजी! क्या मैं आपसे यह निवेदन करूँ कि आप हिन्दुस्तान के सभी प्रान्तों में शिक्षा-शास्त्रियों का एक डेपुटेशन भेजें, जो हमारे शिक्षा-शास्त्रियों को आपकी योजना

समझा सके। मैं चाहता हूँ कि मेरे इस निवेदन का कोई ग़लत अर्थ न लगाया जाय। मैं उत्सुक हूँ कि आपकी योजना पर जल्दी से जल्दी अमल हो। आज अपने प्रान्त का शिक्षा मंत्री होते हुए भी मैं एक साधारण गृहस्थ हूँ। मेरे प्रान्त में ऐसे शिक्षाशास्त्री हैं, जिनके दिल में शिक्षा की लगन होते हुए भी उनकी अपनी शंकायें हो सकती हैं, जिनका निराकरण ज़रूरी है। दूसरी तरफ़ कुछ ऐसे भी शिक्षक हो सकते हैं, जो नाना प्रकार के प्रश्न खड़े करके मेरी कठिनाइयों को बढ़ाना चाहते हों, और संभव है कि मैं उनके सब प्रश्नों का उत्तर न दे सकूँ। इन दोनों श्रेणियों के सज्जनों के लिए बहुत ज़रूरी है कि आपके विचारों से भलीभाँति परिचित कुछ विद्वानों का एक शिष्ट-मण्डल सब जगह घूमे और इन लोगों को सब बातें साफ़-साफ़ समझा दे, ताकि मैं उनसे कह सकूँ कि शिक्षा की जो पद्धति मैं चाहता हूँ, वह यह है, और इसीका अनुसरण होना चाहिए। इससे हमारा पथ सुगम हो जायगा। फिर, इस पद्धति के पक्ष में हमें कुछ प्रचार भी तो करना होगा। महात्माजी! मेरे विचार में इसका इससे बेहतर और कोई तरीक़ा नहीं है कि ऐसे सज्जनों का एक शिष्ट-मण्डल सब प्रान्तों में जाये, और प्रचार करे। जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, मैं ऐसे शिष्ट-मण्डल का सहर्ष स्वागत करूँगा और उसका समस्त व्यय भी उठाऊँगा।

अन्त में, सबसे बड़ी बात मुझे आपके स्वास्थ्य के बारे में कहनी है। मैं कल भी आपसे निवेदन कर चुका हूँ और आज फिर उसे दोहराता हूँ कि उत्कल के सभी कांग्रेसी और ग़ैर-कांग्रेसी मित्रों की यह हार्दिक अभिलाषा है कि आप पूरा आराम करें, और जिस भारी बोझ को आप अबतक उठाते रहे हैं, उससे अपने को अलग रक्खें। आपका स्वास्थ्य राष्ट्र की सम्पत्ति है। आप जानते हैं कि पिछले सौ वर्षों से हम इस मौजूदा शिक्षा-प्रणाली की छाया में पलते आये हैं, इसलिए अभी कुछ और महीने इसकी छाया में रह सकते हैं। अतएव साग्रह निवेदन है कि आप पूरी तरह आराम करें और दूसरी सब बातों को फ़िलहाल भूल जायें!

* * *

इस प्रकार परिषद् की तीसरी बैठक ठीक ग्यारह बजे समाप्त हुई। सभापतिजी ने सूचित किया कि परिषद् की चौथी और अन्तिम बैठक दोपहर को ठीक २ बजे शुरू होगी।

चौथी बैठक

वक्ता

१. श्री श्रीधर हरि थत्ते
२. माननीय डॉ. सैयद महमूद
३. माननीय पं. रविशंकरजी शुक्ल
४. श्री जैनेन्द्रकुमार
५. सौ. सौदामिनी मेहता
६. श्री महादेव भाई देसाई
७. डॉ. जाकिर हुसैन
८. महात्मा गांधी
९. श्री राजेन्द्रप्रसाद
१०. महात्मा गांधी
११. श्री जमनालालजी बजाज

चौथी बैठक

ता. : २३-१०-३७ दोपहर : २ से ५ तक

: १ :

शुरू में सभापतिजी की आज्ञा से महिलाश्रम, वर्धा के शिक्षक श्री श्रीधर हरि थत्तेजी ने अध्यापक शाह की कुछ आर्थिक और व्यावहारिक कठिनाइयों का उत्तर सुझाते हुए नीचे लिखा भाषण किया :

महात्माजी की स्वावलम्बी पढ़ाईवाली योजना पर प्रोफेसर शाह ने अर्थशास्त्र की दृष्टि से ही हमला किया है। इस योजना के अनुसार चलनेवाली पाठशालाओं को सरकारी संरक्षण मिलेगा, वे पूर्णतया संगठित रहेंगी, और उनमें करोड़ों की तादाद में लड़के पढ़ेंगे; इसलिए उनमें पैदा होनेवाली चीज़ों से आज के असंगठित और निराश्रित करोड़ों कारीगरों की रोज़ी छिन जायगी और बेकारी बढ़ेगी; यही उनका सबसे बड़ा आक्षेप मालूम होता है। किसी भी व्यवसाय को संरक्षण देते समय या जेल और अकाल-पीड़ितों को काम देते समय इस बात पर ध्यान देने की ज़रूरत है, कि वे मौजूदा कारीगरों के साथ स्पर्धा न करें। लेकिन पढ़ाई सार्वजनिक होने पर सभी परिवारों के लड़के, सभी कारीगरों के लड़के, पाठशालाओं में आयेंगे। ऐसी दशा में उनकी कमाई से किसी भी परिवार या कारीगर के साथ स्पर्धा होने का डर नहीं रहेगा। ज्यादा-से-ज्यादा इतना ही होगा, कि मा-बाप के बदले लड़के कमायेंगे। परिवार की कुल आय पर इसका कोई असर नहीं होगा। दूसरे, प्रोफेसर साहब के कहने का कुछ ऐसा मतलब मालूम होता है कि आज ये सब लड़के बेकार बैठे रहते हैं, और इन्हें काम देकर हम

मज़दूरों के दल में वृद्धि करते हैं। लेकिन यह सच नहीं है। आज भी क़रीब-क़रीब सभी लड़के अपने मा-बाप के काम में मदद करते ही हैं। फ़र्क़ इतना ही है, कि काम का तरीक़ा न जानने के कारण आज उनकी कमाई नहीं के बराबर होती है। उन्हें कुशल कारीगर बनाने में आखिर फ़ायदा उनके मा-बापों को ही होगा। इसलिए मौजूदा अनघड़ कारीगरों को कुशल कारीगर बनाने में किसी सच्चे अर्थशास्त्री को कोई आपत्ति नहीं हो सकती।

देहाती कारीगरों की तैयारी वैज्ञानिक ढंग से न हो सकने के कारण उनकी बनाई हुई चीज़ें बेडौल और कलाहीन रहती हैं। इसलिए आज के सभ्य और पढ़े-लिखे लोग देहाती चीज़ें खरीदना पसन्द नहीं करते। जब इन्हीं कारीगरों के लड़के सुन्दर चीज़ें पैदा करने लगेंगे, तो उनकी चीज़ों के लिए एक नया बाज़ार ही खुल जायगा। आज का फ़ैशन-पसन्द सभ्य समाज देहात से दूर भागता है। जब यही देहात आकर्षक और सुन्दर बन जायँगे, तो हमारे भद्र लोग ज्यादा तादाद में वहाँ रहना पसन्द करेंगे, और इससे देहाती कारीगरों की आय में वृद्धि भी होगी।

रही बात यंत्र-युग की। शाह साहब को डर है कि कहीं महात्माजी हमें मध्य-युग की तरफ़ तो नहीं ले जा रहे हैं? यान्त्रिक आविष्कार चाहे भले हों या बुरे, एक बात निश्चित है, कि जबतक दिमाग़ और हाथ का मेल न होगा, तबतक यान्त्रिक आविष्कार असम्भव रहेंगे। हमारा देश आजतक कोई ख़ास यान्त्रिक प्रगति न कर सका, इसकी वजह यह नहीं है कि हम मध्ययुग के पक्षपाती थे। महात्माजी तो अभी-अभी आये हैं। फिर, उनसे पहले हमने प्रगति क्यों न की? इसका एक ही कारण है: कारीगर अपने दिमाग़ का उपयोग नहीं करते थे, और बुद्धि-जीवी वर्ग हस्त-कौशल को अपने पास फटकने नहीं देते थे। उद्योग को शिक्षा का केन्द्र बनाने से यह भयानक परिस्थिति दूर हो जायगी, और आवश्यकतानुसार यान्त्रिक आविष्कार करने की क्षमता हमारे कारीगरों में आ जायगी।

: २ :

आपके बाद राष्ट्रीय विद्यालय, खामगाँव के आचार्य ने अपने विद्यालय के अनुभव से स्वावलम्बन का समर्थन करते हुए नीचे लिखा भाषण किया :

मध्यप्रान्त और बरार में कुल चार राष्ट्रीय विद्यालय हैं। मुझे आपको यह सूचित करते हुए हर्ष होता है कि हमारे खामगाँव के राष्ट्रीय विद्यालय ने अपने यहाँ पिछले दो महीनों से स्वावलम्बी शिक्षा का प्रयोग शुरू किया है। आजकल विद्यालय में सुबह ७ से १० तक सामान्य विषयों की पढ़ाई होती है, और शामको १ से ५ तक चार घण्टे चर्खे पर सूत की कताई होती है। इस समय विद्यालय में क़रीब ५० यरवड़ा चक्र रोज़ चलते हैं। एक छात्र चार घण्टों में कम से कम एक गुण्डी, यानी ६४० तार सूत कातता है। सूत का नंबर १२ से २५ तक होता है। बेरम रुई का इस्तेमाल किया जाता है। एक गुण्डी सूत का बाज़ार भाव आज कम-से-कम आध आना है। कुछ विद्यार्थी पौन आना और एक आना रोज़ भी कमाते हैं। पचीस छात्रों की एक कक्षा का हिसाब लगायें, तो कम-से-कम उनकी रोज़ाना आमदनी ।॥) तो हो ही जाती है। इस तरह स्पष्ट है कि शिक्षक के वेतन की दृष्टि से इस योजना के अनुसार हम विद्यालयों को बहुत-कुछ स्वावलम्बी बना सकते हैं। इसलिए मेरा अनुरोध है कि महात्माजी की इस योजना को सफल बनाने के लिए पूरा-पूरा यत्न किया जाय!

: ३ :

फिर बिहार के शिक्षा-मंत्री माननीय डॉ. सैयद महमूद ने अपने प्रान्त की स्थिति का और अपनी योजना का ज़िक्र करते हुए नीचे लिखा भाषण किया :

अपने सूबे में प्राइमरी तालीम को सबके लिए सुलभ, मुफ्त और लाज़िमी बनाने के खयाल से मैंने भी अपने तौर से एक तजवीज़ तैयार की थी, जिसमें महात्माजी की तजवीज़ से दस्तकारी के और प्रोफेसर शाह के मज़ामीन (लेखों) से 'कॉन्सक्रिप्शन' के खयाल को लेकर मैं आगे बढ़ा था। लेकिन इसमें 'सेल्फ सपोर्टिंग' की, और दस्तकारी

को बीच में रखकर उसीके ज़रिये सारी तालीम देने की बात नहीं सोची गई थी; क्योंकि उस वक्त तक मैं इस चीज़ को अच्छी तरह समझा नहीं था। अब 'सेल्फ सपोर्टिंग' का जो मतलब मैंने यहाँ समझा है, उससे मुझे यह उम्मीद होने लगी है कि हमारे गाँवों में इस चीज़ को चलाने में कोई खास दिक्कत न होगी। हमारे सूबे बिहार में कुल ५०,००० गाँव हैं। इन सब गाँवों में तालीम का इन्तज़ाम करने और नई तालीम का पैग़ाम पहुँचाने के लिए कम-से-कम २५,००० उस्तादों या गुरुओं की हमें ज़रूरत होगी। सवाल यह होता है कि इतने सारे उस्ताद हम लायेंगे कहाँ से? मैंने इसका जवाब यह सोचा है कि हमारे सूबे में हर साल जो १०-१२ हज़ार नौजवान मैट्रिक पास होते हैं, उनसे कहा जाय, कि वे इस चीज़ में दिलचस्पी लें और तालीम के प्रचार में सरकार की मदद करें। देहात में जाकर बैठने से पहले ऐसे नौजवान उस्तादों को कुछ अर्से तक ट्रेनिंग स्कूलों में रहकर ज़रूरी तालीम हासिल करनी होगी। मुझे उम्मीद है कि इस तरह के जो उस्ताद गाँवों में जाकर तालीम का काम शुरू करेंगे, उनके गुज़र-बसर का बोझ देहातवाले ख़ुशी-ख़ुशी अपने सिर लेंगे। खाने-पीने और रहने का इन्तज़ाम गाँवों में मुफ्त हो जायगा। फिर दीगर खर्च के लिए उस्तादों को हर माह दो-चार रुपया देने की ज़रूरत रहेगी, जो मैं समझता हूँ, आसानी से दिये जा सकेंगे। इस तरह चन्द लाख रुपयों के खर्च में हम प्राइमरी तालीम को सारे सूबे में फैला सकेंगे। इस तजवीज़ में एक ही खामी मुझे नज़र आती है। और वह यह है कि इन मैट्रिक पास नौजवानों से इस तरह की सेवा, हम सरकारी या ग़ैर-सरकारी, किसी भी तरीक़े से, साल-दो साल से ज्यादा नहीं ले सकेंगे। नतीजा यह होगा कि हमें उस्तादों को बार-बार बदलना पड़ेगा, जो शायद अच्छी चीज़ न होगी। हाँ, यह उम्मीद ज़रूर है कि साल-दो साल के तजरबे के बाद जिन उस्तादों को हम भेजेंगे, वे शुरू के उस्तादों से ज्यादा ट्रेण्ड यानी तालीमशुदा और क़ाबिल होंगे, और ग़ालिबन् कई साल तक एक ही गाँव में काम करने की उम्मीद रखनेवाले होंगे।

दूसरी बात मैंने यह सोची थी कि गाँवों में तालीम के फैलाव के लिए और देहातवालों की जानकारी को बढ़ाने और उनमें नई जान फूँकने के लिए, अगर मुनासिब और मुमकिन हो, तो सिनेमा और रेडियो की ताक़त से भी मदद लेनी चाहिए। जहाँ तक मैं जानता हूँ, इस काम में रूस ने बड़ी तरक्की की है, और मैं समझता हूँ, कि उसके तज़रबे से हम फ़ायदा उठा सकते हैं। मेरे ख़याल में

यह ऐसी चीज़ होगी, जिससे बच्चों और बड़ों सबको दिलचस्पी होगी और फ़ायदा पहुँचेगा।

अब एक सवाल, जो मेरे दिल में उठता है, यह है कि इस वक्त जो प्राइमरी और सेकण्डरी तालीम हमारे मदरसों में दी जा रही है, उसका क्या किया जायगा? वह वैसी ही चला करेगी, या उसको मिटाकर नई चीज़ चलानी होगी? मेरा दिमाग़ इस बारे में साफ़ नहीं है; इसलिए मैं अर्ज़ करूँगा कि महात्माजी इस मसले पर भी हमें सलाह दें!

इस सिलसिले में मुझे और भी कई बातें महात्माजी से कहनी थीं, मगर वह सब मौक़ा पाकर महात्माजी से ही कहूँगा; यहाँ इस वक्त आप लोगों का ज्यादा वक्त न लूँगा।

: ४ :

आपके बाद मध्यप्रान्त के शिक्षा-मंत्री माननीय **श्री रविशंकरजी शुक्ल** ने अपनी 'विद्या-मंदिर-योजना' को समझाते हुए नीचे लिखा भाषण किया :

कल मैंने अपने भाषण में कहा था कि महात्माजी की योजना के अनुसार जो शालायें प्रयोग के लिए खोली जायँ, उनमें से एक शाला, मैं चाहूँगा, कि महात्माजी के समीप सेगाँव में ही हो। और दूसरी भी कुछ शालायें वर्धा और वर्धा के आस-पास, महात्माजी के और उनके कार्यकर्ताओं के समीप खोली जायँ। इससे मेरा आशय यह था कि जो प्रयोग किया जाय, वह अच्छी से अच्छी परिस्थितियों में हो। मेरा मतलब टरकाने का हरगिज़ न था।

यह सबने स्वीकार किया है, कि बच्चों को दस्तकारी की शिक्षा देना आवश्यक है। मध्यप्रान्त के शिक्षा-विभाग ने भी दस्तकारी की शिक्षा देने की आवश्यकता महसूस करके ३-४ साल से इस ओर उद्योग शुरू किया है। परन्तु मध्यप्रान्त के शिक्षा-विभाग का

जो वर्तमान क्रम है, उससे हालाँकि दस्तकारी को प्रोत्साहन मिलता है, तो भी उस क्रम में प्रत्येक विषय एक दूसरे-से असम्बद्ध रहता है। महात्माजी की योजना का आरम्भ करने के लिए उस प्रणाली को बदलना होगा।

यह भी मानी हुई बात है कि महात्माजी की योजना को चलाने के लिए हमें अच्छे शिक्षकों की आवश्यकता होगी। ऐसे शिक्षक उनकी योजना में काम न दे सकेंगे, जिन्हें केवल अपने वेतन की ही चिन्ता रहती है।

जैसा कि मैं कह चुका हूँ, मेरी इच्छा यह है कि हम जो १०-१२ शालायें प्रयोग के लिए खोलना चाहते हैं, वे सब वर्धा के आस-पास ही हों। मैं यह भी चाहता हूँ कि वर्धा के नार्मल स्कूल को ही महात्माजी की योजना के लिए शिक्षक तैयार करने का काम सौंपा जाय।

प्रोफेसर शाह–जैसे अर्थशास्त्री ने महात्माजी की योजना के उस भाग की कड़ी आलोचना की है, जिसमें शाला का चालू खर्च—शिक्षक का वेतन—विद्यार्थियों की कमाई में से निकालने की बात है। डॉक्टर सैयद महमूद साहब ने जो कुछ कहा, उसे भी मैंने ध्यान से सुना है। मेरी सम्मति में हमारे सम्मुख दो समस्यायें उपस्थित हैं। पहली, बच्चों की शिक्षा की, और दूसरी प्रौढ़ों की शिक्षा की। स्कूलों और कॉलेजों से निकले हुए छात्रों की अनिवार्य सेवा (कॉन्स्क्रिप्शन) का फ़ायदा केवल प्रौढ़ों को शिक्षा देने में उठाया जा सकता है। वे बच्चों को पढ़ाने में समर्थ न हो सकेंगे। बच्चों को शिक्षा देने के लिए तो ऐसे शिक्षकों की ही आवश्यकता होगी, जो विशेष रूप से तालीम पाये हुए और दस्तकारी के अच्छे जानकार होंगे।

मुफ्त प्राइमरी तालीम के पक्ष में सभी ने अपनी सम्मति दी है। उसकी व्यवस्था करने के लिए हमें कमर कस लेना चाहिए।

अब मैं मध्य-प्रान्त के सम्बन्ध में थोड़ी चर्चा करूँगा।

हमारे लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम प्रांत के तमाम बालकों को पहले, और जहाँ तक हो, जल्दी-से-जल्दी, पढ़ा दें। यदि हम ऐसा कर लेंगे, तो अशिक्षित प्रौढ़ों की संख्या का बढ़ना रुक जायगा। बाद को उनकी शिक्षा की समस्या हाथ में लेकर हम उसे शीघ्र ही सुलझा सकेंगे। फलतः थोड़े ही दिनों में हमारी दो में से एक समस्या का—प्रौढ़ों को शिक्षा देने की समस्या का—अन्त हो जायगा। इसके विरुद्ध, यदि हम प्रौढ़ों को शिक्षा

देने में पहले अपनी शक्ति लगाते हैं, तो यह कार्य कभी समाप्त न होगा। आज के बालक कल प्रौढ़ होंगे, और यदि बचपन में उन्हें शिक्षा न मिली, तो वे अशिक्षित प्रौढ़ों की संख्या बढ़ाते रहेंगे।

इस प्रान्त में अभी १०० बालक-बालिकाओं में सिर्फ़ २१ शिक्षा पा रहे हैं। ७९ बिलकुल निरक्षर रह जाते हैं। सम्पूर्ण प्रान्त में लगभग ४०,००० गाँव हैं। इनमें से, जैसा कि मैं कल कह चुका हूँ, क़रीब ५,००० गाँवों में पाठशालायें हैं। और इन पाठशालाओं में लगभग १६,००० गाँवों के बच्चे शिक्षा पा सकते हैं, चाहे वे सब आज पढ़ते न हों। बाक़ी के २४,००० गाँवों के बच्चों की पढ़ाई के लिए कोई सुविधा नहीं है। हमें शिक्षा को अनिवार्य तो करना ही है, मगर साथ ही इन २४,००० गाँवों के लिए नया प्रबन्ध भी करना है।

आजकल इस प्रान्त में इन ५,००० शालाओं का खर्च इस प्रकार पूरा किया जाता है : सरकार की ओर से १३। लाख रुपया, स्थानिक संस्थाओं की ओर से १९ लाख रुपया, और फ़ीस से ३॥ लाख रुपया। इस प्रकार कुल क़रीब ३६॥। लाख रुपये खर्च करके ये ५,००० शालायें गाँवों में चलाई जाती हैं। फ़ी विद्यार्थी १०।–) खर्च पड़ता है। यदि इसी प्रकार शेष गाँवों में शालायें खोली जायँ, तो जो आँकड़े शिक्षा विभाग के दफ्तर से मुझे मिले हैं, उनके अनुसार २ करोड़ रुपये वार्षिक खर्च की ज़रूरत है। इसके सिवा, आजकल के तरीक़े को ग्रहण करने पर ४ करोड़ रुपये मकानों और सामान आदि में लगेंगे। इतनी बड़ी रक़म प्रान्त की आमदनी में से शिक्षा-विभाग को मिलेगी, ऐसी आशा करना ही वृथा है। प्रान्तीय सरकार की पूरी आय ४॥ करोड़ है। उसमें से शराब-बंदी की योजना को अमल में लाने पर लगभग ६०-६५ लाख की आमदनी कम हो जायगी। फिर किसानों का बोझ भी हलका करना है। उसमें भी लगभग ८ लाख रु० कम हो जायँगे। इस प्रकार कुल आमदनी सिर्फ़ ३॥। करोड़ की बची। इसमें से लगभग ७० प्रतिशत नौकरों के वेतन में खर्च होता है; उसे कोई छू भी नहीं सकता। जो कुछ बचता है, उसमें सब महकमों का हिस्सा है। और उसमें से शिक्षा-प्रचार के लिए क्या मिल सकता है, सो बिना कहे साफ़ है।

ऐसी हालत में कोई और उपाय न देख, मैंने सोचा कि जिन गाँवों के बच्चों को पढ़ाना हो, उन्हीं गाँवों की मदद से कुछ ऐसा प्रबन्ध कर दिया जाय, जो गाँववालों को भार-रूप न मालूम हो। गाँवों में यदि कुछ है, तो ज़मीन है। कई मालगुज़ारों और पटेलों के

पास अन्य लोगों से प्रायः अधिक जमीन रहती है। यदि उन गाँवों में, जहाँ विद्या-मन्दिर खोलने की ज़रूरत है, मालगुज़ार, पटेल अथवा अन्य सम्पन्न लोग इतनी ज़मीन विद्या-मन्दिर के लिए लगा दें, कि उससे खर्च निकल कर लगभग २०० रु० सालाना की बचत हो जाय, तो उस ज़मीन के सहारे उन गाँवों में विद्या-मन्दिर खोले जा सकते हैं। औसतन इतनी आमदनी के लिए २०-२५ एकड़ ज़मीन की ज़रूरत होगी। इसकी आमदनी पर हर गाँव में एक शिक्षक रक्खा जा सकता है, जो वहां के बालक-बालिकाओं को शिक्षा दे। ऐसे शिक्षक की मासिक आय कम-से-कम १५ रु० निश्चित रहेगी। यदि किसी वर्ष उपज कम हुई या मारी गई, तो 'फैमिन रिज़र्व फंड' से यानी अकाल-कोषों से, उसका वेतन पूरा कर दिया जायगा। 'विद्या-मन्दिर' नाम रखने से जनता की पूज्य बुद्धि उसकी ओर खिंचेगी, और शुभ अवसरों पर लोगों के दान आदि को और धर्मादाय के रुपये को हम उसकी ओर खींचने का प्रयत्न करेंगे। जैसे-जैसे विद्या-मन्दिर की उन्नति होगी, वैसे-वैसे ही शिक्षक के वेतन में वृद्धि की संभावना रहेगी। विद्या-मन्दिर नाम पर केवल इसलिए तो आपत्ति न की जानी चाहिए कि उसमें 'मंदिर' शब्द जुड़ा हुआ है। मंदिर का अर्थ तो घर या भवन होता है। 'आरोग्य-मंदिर', 'व्यायाम-मंदिर' आदि अनेक नाम इस तरह के अर्थ के प्रमाण हैं। फिर भी मैं इस नाम के प्रति इतना अनुरक्त नहीं हूँ, कि इसके बिना मेरा काम ही न चले। यदि जनता ठीक समझे, और मुझे कोई दूसरा उपयुक्त नाम सुझाया जाय, जिससे मैं चाहा हुआ फायदा उठा सकूँ, तो मैं इस नाम को छोड़कर उसे स्वीकार कर लूँगा।

जो शिक्षक विद्या-मन्दिर में नियुक्त किया जायगा, पहले उसे पाँच वर्ष की परीक्षा की शर्त पर काम करना होगा। इस समय में यदि उसने अपने काम से संतोष प्रदान किया, तो वह पक्का कर दिया जायगा। उसी समय उसके जीवन का बीमा भी लगभग ५०० रु० का करा दिया जायगा, ताकि उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके बाल-बच्चों को इतनी रक़म मिल जाये, या स्वयं बुढ़ापे में उसके काम आये। शिक्षक में त्याग की भावना और परोपकार की लगन का होना एक ज़रूरी गुण होगा। वह ऐसा होगा, तो गाँववाले उसपर श्रद्धा करेंगे, और निःसंकोच अपने बच्चों को उसके पास शिक्षा लेने भेजेंगे। शाम और रात को यथासम्भव यही शिक्षक प्रौढ़ों को शिक्षा देगा। छुट्टियों में यही गाँववालों को ग्राम-सुधार के लिए प्रेरित करेगा। विद्या-मन्दिर की ज़मीन पर वह बालकों को यथोचित कृषि-शिक्षा भी देगा।

विद्यामन्दिर की कृषि का प्रबन्ध गाँव के बालिग़ मताधिकार से चुने हुए कुछ व्यक्तियों तथा कुछ सरकारी अफ़सरों की, जो शिक्षा, कृषि, पशुपालन, तथा कोऑपरेटिव आदि विभागों के होंगे, एक 'ट्रस्ट कमेटी' द्वारा होगा। सरकारी मेम्बरों के लिए लाज़िमी होगा कि वे विद्यामन्दिर के उन विभागों की उन्नति का प्रयत्न करें, जो उनसे सम्बन्ध रखते हैं। इस ट्रस्ट की रजिस्ट्री करा दी जायगी। शिक्षक ट्रस्ट का सेक्रेटरी रहेगा और हिसाब-किताब रक्खेगा। ट्रस्ट के पास जो रक़म विद्या-मन्दिर का ख़र्च चलाने के बाद बचेगी, उसे एक संचित निधि (रिज़र्व फण्ड) में रक्खा जायगा और अकाल आदि के समय उसका उपयोग किया जायगा।

बालकों की बनाई हुई चीज़ें--खिलौने, रस्सी, निवार, सूत आदि--यदि बेचने लायक होंगी, तो उनकी आमदनी भी ट्रस्ट के पास जमा होगी।

पढ़ाई का समय ऐसा रक्खा जायगा कि विद्यार्थी अपने पालकों के काम में प्रायः वैसा ही हाथ बँटा सकें, जैसा कि अभी। इस प्रकार की उपयोगी और सुविधा-जनक शिक्षा का प्रबन्ध करने से पालक अपने बच्चों को चाव के साथ विद्या-मन्दिरों में भेजेंगे।

मेरी यह योजना किसी भी प्रकार से महात्माजी की योजना के बदले में दूसरी योजना नहीं है। मेरी योजना से तो महात्माजी की योजना को कार्य-रूप में परिणत करने के लिए धरती मिल जाती है।

मेरा यह भी विचार है कि मैट्रिक अथवा अन्य उच्च परीक्षा पास करके पढ़ाई छोड़ देनेवाले विद्यार्थियों के लिए एक वर्ष तक गाँवों में जाकर अवैतनिक सेवा करना अनिवार्य कर दिया जाय। पास होने पर उनका नाम तो छपा दिया जाय, लेकिन डिग्री, डिप्लोमा आदि उन्हें तभी दिया जाय, जब वे एक साल तक सेवा-कार्य करके दिखला दें।

प्रोफ़ेसरों और शिक्षकों से भी मैं अपेक्षा रक्खूँगा कि वे छुट्टियों में छात्रों के साथ ग्राम-सेवा में कुछ समय बिताया करें। ऐसा हुआ, तो शहरों में रहनेवाले शिक्षक और विद्यार्थी, देहाती जीवन को, जो हमारे देश का असली जीवन है, उसकी कठिनाइयों को, और उसके दुख-दारिद्रय को भली-भाँति जान और समझ सकेंगे।

संक्षेप में यही मेरी योजना है। मैं इस पर एक विस्तृत नोट लिख रहा हूँ, जो शीघ्र ही जनता के सम्मुख आयेगा।

: ५ :

आपके बाद हंस के सम्पादक और हिन्दी के मशहूर लेखक श्री जैनेन्द्रकुमारजी ने, रात जो बड़ी कमेटी गांधीजी की तजवीज़ पर ग़ौर करने और उसके बारे में अपनी राय देने की गरज़ से बैठी थी, उसकी कार्रवाई का, और उसमें हुई कई बातों का खुलासा करते हुए एक भाषण किया और रातवाली कार्रवाई की कुछ बातों के बारे में गाँधीजी से प्रार्थना की, कि वे उनपर अपनी राय इस तरह साफ़ ज़ाहिर कर दें, कि किसी को कोई शक न रह जाय।

: ६ :

फिर गांधीजी की आज्ञा से श्रीमती सौदामिनी मेहता ने गुजराती में नीचे लिखा भाषण किया :

हमें तय कर लेना चाहिए कि शिक्षा की हमारी इस योजना में धार्मिक-शिक्षा का क्या स्थान रहेगा? अनेकानेक समझदार माता-पिताओं और शिक्षकों के सामने आज यह एक समस्या ही है कि बालकों को धार्मिक शिक्षा दी जाय, या न दी जाय। यह तो निर्विवाद है कि बालकों से ज़बर्दस्ती पूजा या प्रार्थना करवाना उचित नहीं। इसी तरह यह भी उचित नहीं कि उन्हें गीता के श्लोक सुना कर हम यह कहें कि गीता का प्रत्येक शब्द सच्चा है, अतएव बिना सोचे-समझे भी जीवन में उसका पालन करना चाहिए। इसी प्रकार बालकों को रोज़ कुरान सिखाना या रोज़-रोज़ बाइबल पढ़कर सुनाना

भी मुनासिब नहीं। तब सवाल होता है कि, किया क्या जाय ? हम समझ सकते हैं कि अंग्रेज़ी शिक्षा के कारण हमारे बहुतेरे लोगों के दिलों में प्रचलित धर्मों के प्रति कोई श्रद्धा नहीं रह जाती; लेकिन यह तो एक पहेली ही है कि जीवन के किसी भी विषय में उन्हें श्रद्धा क्यों नहीं रहती ? उनका कुछ ऐसा खयाल-सा हो जाता है कि जब आज का सारा संसार उलटे रास्ते जा रहा है, और जब उसे सही रास्ते पर लाना मुमकिन नहीं है, तो फिर क्यों न हम भी उसी उलटे रास्ते जायँ ? यह तो इनकी बात हुई। अब आगे जिन बालकों को हमें नई शिक्षा देनी है, उनको इस अवस्था से बचा लेना हमारा काम है। इसके लिए हम क्या कर सकते हैं ? मेरे विचार में इसका एक उपाय यह हो सकता है, कि बहुत ही छोटी उमर से बालकों को सब धर्मों की कुछ चुनी हुई उत्तमोत्तम कहानियाँ सुनाई जायँ। इसके बाद कुछ अधिक बड़े होने पर उन्हें भिन्न-भिन्न धर्मों के संस्थापकों अथवा महापुरुषों के जीवन की सरल कहानियाँ सुनानी चाहिएँ। आगे चलकर जब बालक ज़रा ज्यादा समझदार हो जायँ, उनके सामने विभिन्न धर्मों के धार्मिक सिद्धान्त सरल भाषा में रक्खे जाने चाहिएँ। यह ज़रूरी नहीं मालूम होता कि बालकों से कोई एक ही भजन या स्तवन फिर-फिर और रोज़-रोज़ गवाया जाय, अथवा बिना समझे-बूझे ही गीता के श्लोकों का जल्दी-जल्दी पारायण कराया जाय। इससे बालकों के अन्दर ज़रा भी धार्मिकता पैदा नहीं होती, उलटे प्रार्थना की इस कृत्रिमता से उनका जी उचट जाता है। किन्तु यदि बालकों के आस-पास धार्मिक वातावरण पैदा किया जाय, तो अवश्य बड़ेपन में वे धर्म के सिद्धान्तों का अनुसरण करेंगे।

हममें से कइयों का आज यह खयाल-सा है कि हमारे अन्दर अनुशासन या डिसिप्लिन नहीं है। और, यही वजह है कि एक संगठित राष्ट्र के रूप में हम खड़े नहीं रह सकते। और यह सच भी है। इसके जवाब में आज हमारे बहुतेरे माता-पिता अपने बालकों को इस आशा से अंग्रेज़ी कन्वेण्टों में अथवा मिशनरी मदरसों में भेजते हैं कि वहाँ जाकर वे अनुशासन सीखेंगे। लेकिन हमें याद रखना चाहिए कि इस तरह का बनावटी और बलपूर्वक सिखाया हुआ अनुशासन हमारे किसी काम का नहीं है। हमारे ऋषि-मुनि जंगलों में आश्रम बनाकर रहते, और छात्रों को प्रकृति की गोद में खेला कर वहीं शास्त्रों का अभ्यास कराते थे। यही क्यों, वे तो बचपन ही से छात्रों की इन्द्रियों का इस तरह विकास करते थे कि उनके अन्दर एक प्रकार का स्वयंभू संयम उत्पन्न हो जाता था। फलतः बड़ेपन में यही विद्यार्थी महान् विचारक बनते थे, और सादा जीवन

व्यतीत करते थे। आज हमें अपने बालकों के लिए इसी प्रकार के संयम की आवश्यकता है। अतएव हमें खासतौर पर याद रखना पड़ेगा कि हमारी नई पाठशालाओं में पछाँही अनुशासन की नक़ल न हो! जो अनुशासन आज यूरोप में बल-पूर्वक सिखाया जाता है, उसके कारण वहाँ हज़ारों-लाखों सैनिकों की सेनायें तो खड़ी हो सकती हैं, परन्तु स्वतंत्र विचार करनेवाले स्त्री-पुरुषों के संघ तैयार नहीं हो पाते। यूरोप में अतिशय बुद्धिशाली लोगों का एक छोटा-सा दल है, जो जीवन के महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर गंभीरता-पूर्वक विचार करता है, लेकिन सर्व-साधारण जनता आज उसका अनुसरण करने को तैयार नहीं है। झूठे अनुशासन के फल-स्वरूप यूरोप आज युद्ध के पथ पर अग्रसर हो रहा है, और ढूँढ़ने पर भी आज उसे शान्ति का मार्ग मिल नहीं रहा। इस झूठे अनुशासन का ही यह परिणाम है कि आज जर्मनों के समान बुद्धिशाली लोग भी भेड़ों की तरह हिटलर का अनुसरण कर रहे हैं। हम नहीं चाहते कि हमारे बालक ऐसा अनुशासन सीखें। पर्वा नहीं, अगर हमारे बालक एक कतार में खड़े होकर तालबद्ध कूच न कर सकें; किन्तु हमारी अभिलाषा यह होनी चाहिए कि वे स्वतंत्रता-पूर्वक विचार करके जीवन-संग्राम में असत्य, हिंसा, द्वेष, कायरता, कृत्रिमता, बैर, आदि का सामना करें और विजयी हों—अभिमानी अथवा स्वार्थी न बनकर मनुष्य जाति के कल्याण का मार्ग ग्रहण करें!

श्री नानाभाई (नृसिंहप्रसाद भट्ट) ने यह कहा कि बालक की शिक्षा उसकी तीन साल की उमर से शुरू होनी चाहिए; लेकिन मैं तो इस खयाल का हूँ, कि जिस क्षण बालक का जन्म होता है, उसी क्षण से उसकी शिक्षा शुरू हो जाती है। यदि जन्मकाल से ही उसे नियमित सुलाया जाय, नियत समय पर दूध पिलाया जाय, और यों उसके समस्त जीवन को नियमित बनाया जाय, उसे जहाँ तक हो सके, स्वतंत्र और अकेला छोड़ दिया जाय, तो इसमें सन्देह नहीं कि आगे चलकर वह ज़रूर ही स्वस्थ, संयमी, नियमित, निर्भीक और स्वावलम्बी बनेगा। ध्यान रहे कि शिक्षा की दृष्टि से मनुष्य जीवन के पहले तीन वर्ष अत्यन्त महत्त्व के वर्ष हैं। इसके लिए हमें स्थान-स्थान पर 'शिशु-मंगल-प्रतिष्ठान' अथवा 'बाल हितकारी-केन्द्र' खोलने चाहिएँ, और माताओं को बालकों की मानसिक और शारीरिक सार-सँभाल का काम सिखाना चाहिए। फिर, आगे चलकर बाल-मन्दिरों या नर्सरी स्कूलों द्वारा बालकों को आवश्यक शिक्षण देना चाहिए। इसके बाद जब बालक छः या सात वर्ष के हो जायँ, उन्हें प्राथमिक शाला में भर्त्ती करा देना चाहिए। मेरे विचार में यह आवश्यक है कि पहले छः वर्षों की शिक्षा का समस्त भार स्त्रियों पर

छोड़ दिया जाय। शिक्षित मातायें जिस धैर्य और लगन के साथ इन संस्थाओं का संचालन कर सकेंगी, वैसा पुरुष कभी न कर पायेंगे। इन छः बरसों के बाद हम ऐसे सुशिक्षित बालकों को प्राथमिक शालाओं में भेजेंगी, कि वहाँ शिक्षकों का काम आधोंआध आसान हो जायगा।

अन्त में एक और बात कहकर मैं अपना कथन समाप्त करूँगी। हमारी नई शिक्षा का निर्माण पश्चिम की संस्कृति पर, जिसका आधार हिंसा, मिथ्या स्पर्धा, असत्य और ढोंग है, कभी न होना चाहिए। हमें तो अपनी उस पुरानी उपनिषद्-कालीन संस्कृति के आधार पर, जिसकी नींव सत्य और अहिंसा पर खड़ी की गई है, वर्तमान परिस्थिति और समय के अनुकूल, अपनी नई शिक्षा की रचना करनी है। इस नई शिक्षा के द्वारा हम एक ऐसा नया राष्ट्र उत्पन्न कर सकेंगे, जो हिन्दुस्तान के नाम को सारी दुनिया में गौरवान्वित कर देगा!

: ७ :

बाद में गांधीजी के निजी मंत्री श्री महादेव देसाई ने योजना की उपयोगिता और मौलिकता पर श्रद्धा रखने की प्रार्थना करते हुए अध्यापक शाह की कुछ शंकाओं के जवाब में नीचे लिखा भाषण किया :

मुझे सिर्फ़ दो तीन मिनट का समय दिया गया है, और बातें भी दो-तीन ही कहनी हैं। पहली बात यह है कि बापूजी की योजना को हम उनके सिद्धान्तों से अलग न समझें, बल्कि यह समझें कि वह उनके अहिंसात्मक सिद्धान्त की ही उपज है। हमने अपना ध्येय अहिंसक स्वराज्य रक्खा है। हमें अपने गाँवों को स्वराज्य दिलवाना है। बेकारी मिटानी है। शोषण या लूट का नाश करना है। वर्ग-कलह और क़ौमी झगड़ों का अन्त लाना है। और, यह सब अहिंसा के ज़रिये होने को है। बापूजी की जो योजना बनी है, वह इन सब बातों को ध्यान में रखकर ही बनी है। इस सारी योजना को हम इस दृष्टि से देखें कि इसके ज़रिये हमें अहिंसा का एक नया युग पैदा करना है। आकिर हुसैन साहब ने कहा कि वे चाहें हिंसा में मानें या अहिंसा में, मगर यह योजना उन्हें पसन्द है। लेकिन मेरे

विचार में उनका यह खयाल ठीक नहीं है। जब उन्होंने यह बात कही, तो प्रोफेसर शाह को इस तजवीज़ पर हमला करने का मौक़ा मिल गया। अगर इस तजवीज़ की नींव में अहिंसा न रहे, तो प्रोफेसर शाह के जो एतराज़ हैं, वे सब ठीक ठहरते हैं। लेकिन मशीनों के इस युग में रहकर भी हम तो मशीन के गुलाम नहीं बनना चाहते।

मेरी अर्ज़ यह है कि इस मामले में हम दिल के अन्दर ऐसी श्रद्धा रखकर चलें कि हमें शिक्षा के क्षेत्र में युग-परिवर्तन करना ही है। जब किसी शहर या गाँव में महामारी शुरू होती है, तो हम इस निश्चय से उसका मुक़ाबला करते हैं कि उसे मिटाकर ही छोड़ेंगे। आजकल की शिक्षा को भी मैं एक तरह का प्लेग या महामारी ही समझता हूँ। जब एक बार आप इस प्लेग को मिटाने का निश्चय कर लेंगे, तो तफ़सील की बातें बाद में तय होती रहेंगी। पंडित प्यारेलालजी शर्मा ने सुबह हमसे यह कहा कि महात्माजी ने जो चीज़ हमारे सामने रक्खी है, उसपर हमें अमल करना है। मैं भी यही कहता हूँ कि एकबार हम यह तय कर लें, कि इसका अमल होगा; फिर कैसे होगा और कौन करेगा, सो सब हम बाद में सोचें-समझेंगे। आप जानते हैं कि मैं न तो शिक्षा-शास्त्री हूँ, न अर्थशास्त्री ही हूँ; मगर श्रद्धा-शास्त्री अपने को ज़रूर मानता हूँ। इसीलिए मैं आप सबसे यह निवेदन करना चाहता हूँ कि आप इस चीज़ के लिए अपने दिल में श्रद्धा लेकर जाइये और यह निश्चय करके जाइये कि हमें इसको सफल बनाना है।

शाह साहब ने मशीन की बड़ी तारीफ़ की है। वे अपने विषय के बहुत बड़े पंडित हैं। उनसे कोई क्या मुकाबला करेगा? लेकिन फिर भी दो बातों की ओर मैं उनका ध्यान दिलाना चाहता हूँ। वे पुस्तकों के प्रेमी हैं, इसलिए पुस्तकों द्वारा ही अपनी बात मैं उनके सामने रक्खूँगा। उन्होंने यह कहा है कि कल-कारखाने तो हमें रखने ही होंगे, मगर उनका संगठन समाजवाद के ढंग पर करना होगा, ताकि उन पर मुट्ठीभर लोगों का ही अधिकार न रहे। मैं इसके जवाब में उनके सामने बोर्सोडी की राय पेश करना चाहता हूँ। इस विद्वान् ने यंत्रवाद का और उद्योग-युग का गहरा अध्ययन करके यह साबित किया है कि समाजवाद को अपनाने पर भी यंत्रवाद के गर्भ में जो बुराइयाँ रही हैं, वे कभी दूर नहीं हो सकतीं। उन बुराइयों को दूर करने के लिए वह समाजवाद के साथ गृह-उद्योगों की सभ्यता को आवश्यक बताते हैं। वह कहते हैं, यंत्रवाद की सभ्यता तो हमें सर्वनाश की ओर ही ले जायगी; ख्वाह, उसके प्रवर्तक पूँजीवादी हों, या समाजवादी!

शाह साहब को यह भी डर है कि इस योजना से छोटे कारीगर तबाह हो जायेंगे। बड़े अचम्भे की बात है कि एक तरफ़ तो वे यह कहते हैं कि यह योजना चल ही नहीं सकती, और दूसरी तरफ़ यह भी कहते हैं कि इसकी वजह से छोटे कारीगर तबाह हो जायेंगे। मैं शाह साहब से निवेदन करूँगा कि वे अपने अध्ययन-मन्दिर से निकलकर बाहर आयें और देहात की साफ़ हवा में घूमें, देहातियों के सम्पर्क में आयें, और कारीगरों के जीवन को नज़दीक से देखें। अगर वे कारीगरों से पूछेंगे, तो खुद कारीगर ही उनसे यह कहेंगे कि इस तजवीज़ में उन्हें कोई खतरा नहीं है। उलटे, इसकी वजह से उनके वे छोटे-मोटे धंधे जी उठेंगे, जो इस वक्त आख़िरी साँस ले रहे हैं; उनमें नई जान आ जायगी, और समाज में उन धन्धों की प्रतिष्ठा बढ़ जायगी। दूर क्यों जाइये, इस भंगी के काम को ही ले लीजिये। जब हम ब्राह्मणों ने भंगी का काम शुरू किया, तो भंगी लोग ज़रा डरे। लेकिन अब वह बात नहीं रही। अब तो वे भी समझने लगे हैं कि उनका धन्धा, जो पहले हिक़ारत की निगाह से देखा जाता था, आज उसको एक नई इज्ज़त मिल गई है। हमने चर्खा चलाना शुरू किया, तो समाज में ग़रीब कत्तिनों की वक़त बढ़ गई; उनकी इज्ज़त होने लगी।

यह डर कि स्कूली बच्चों की बनाई चीज़ों को कौन ख़रीदेगा, या कि बाज़ार की सस्ती चीज़ों के मुकाबले में वे कैसे टिक सकेंगी, एक फ़िजूल का डर है। मैं मानता हूँ कि हमारे मंत्री इन चीज़ों की ख़रीद-बिक्री का ठीक ठीक इन्तज़ाम कर सकेंगे। सरकारी कामों के लिए उन्हें जितना कपड़ा लगेगा, जितना काग़ज़ लगेगा, और पुलिस वग़ैरा की पोशाक और जूतों वग़ैरा के लिए जितना सामान लगेगा, सो सब वे हमारे मदरसों से लेंगे! इसमें बाहरी कारीगरों के साथ होड़ का कोई सवाल पैदा न होना चाहिए।

उद्योग-प्रधान शिक्षा की या उद्योग द्वारा शिक्षा की बात कोई नई चीज़ नहीं है। मेक्सिको में और फ़िलिपाइन द्वीपों में इसी ढंग की शिक्षा दी जाती है। चीन और रूस में भी यही तरीक़ा पसन्द किया गया है। अलबत्ता, रूस में जो तालीम दी जाती है, उसकी बुनियाद कुछ और है। रूस में शिक्षा की जो प्रथा प्रचलित है, उसका थोड़ा वर्णन मैं आपको सन् १९३२ की 'एज्युकेशनल ईयर बुक' से सुनाना चाहता हूँ। आप देखिये कि इसमें जो कहा गया है, वह बापू की बातों से मिलता है या नहीं। इसमें लिखा है :

" जहाँ हम इस देश में, यानी इंग्लैण्ड में, लोगों को उद्योग की तालीम देते हैं, तहाँ रूस में तालीम और उद्योग दोनों को भरसक एक ही क्रिया का रूप दे दिया जाता

है। मदरसों को चलाने का काम ज्यादातर किसी एक कारखाने या कारखानों के समूह को सौंप दिया जाता है। कारखाने को जो मुनाफा होता है, उसका सबसे पहला फ़ायदा मदरसों को मिलता है। शिक्षकों का प्रबन्ध भी अधिकतर कारखानेवाले ही करते हैं, और विद्यार्थी सभी अपना ४० से ५० फ़ीसदी वक्त कारखानों के काम में खर्च करते हैं। कारखानों और मदरसों के बीच का यह घना सम्बन्ध इस पद्धति का मूलभूत सिद्धान्त है, और सारे देश की राजनैतिक और सामाजिक रचना का यह परिणाम है। कारखानों के यंत्र ही वे केन्द्र हैं, जहाँ अच्छे-अच्छे तालीमयाफ्ता दिमाग़ और ढेरों माल तैयार होता है। शिक्षा की सारी पद्धति का विचार ही उत्पादन की दृष्टि से किया जाता है। इसके कारण व्यावहारिक शिक्षा को भी किताबी शिक्षा के बराबर का महत्त्व मिलता है। इस प्रकार इस पद्धति में तत्त्व और व्यवहार, उसूल और अमल, दोनों एक सूत्र से बँध जाते हैं। नतीजा यह होता है कि सारा देश एक विशाल विद्यालय बन जाता है, और तत्त्व और व्यवहार में जो विरोध है, वह भी मिट जाता है। और-और बातों के साथ इस पद्धति का ध्येय यह है कि मज़दूरों के अन्दर से कुशल कारीगर पैदा हों; उनके बालकों को उद्योग के काम में डालकर उद्योग के साथ विज्ञान का सम्बन्ध जोड़ा जाय; श्रम-विभाग के कारण ऊँच-नीच के जो भेद पैदा हुए हैं, उनको नाबूद किया जाय, और अबतक हाथ की और दिमाग़ की मेहनत में जो फ़र्क़ माना जाता है, वह मिटाया जाय।"

इसी तरह हम भी अपने शिक्षकों को कारीगर बनाना चाहते हैं, कारीगरों को शिक्षक बनाना चाहते हैं, पंडितों को दुनियादार बनाना चाहते हैं, और दुनियादारों को पंडित बनाना चाहते हैं।

ज़रूरत सिर्फ़ इस बात की है कि आप यहाँ से इस चीज़ के लिए दिल में श्रद्धा लेकर जायें। इस श्रद्धा के बारे में मुझे इस वक्त वेद का एक सुन्दर मंत्र याद पड़ रहा है। बस, उसे सुनाकर मैं अपनी बात खतम कर दूँगा। मंत्र यों है :

श्रद्धां प्रातर्हवामहे। श्रद्धां मध्यन्दिनं परि।
श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि। श्रद्धे! श्रद्धापयेह नः॥

मतलब इसका यह है कि हम रात-दिन, सुबह, दुपहर और शाम, तीनों समय, श्रद्धा की उपासना करें और श्रद्धा हमें श्रद्धामय बनाये!

: ८ :

अन्त में, श्री महादेव देसाई के इस भाषण की कुछ बातों के जवाब में, बतौर खुलासे के, डॉ. ज़ाकिर हुसैन ने नीचा लिखा भाषण किया :

महात्माजी ! आप इजाज़त दें, कि सिर्फ़ दो मिनट में अपनी सफ़ाई पेश कर दूँ ! मुझे कल से बराबर यह मालूम हो रहा था, कि मैंने कोई बात ऐसी कही है, जो लोगों को कुछ बुरी लगी। पर मैं इसपर चुप ही रहा। मगर अभी-अभी महादेव भाई ने जो कुछ कहा है, उसके बाद मैं चाहता हूँ कि कुछ कह दूँ। उन्होंने जो कहा है कि यह काम बिना श्रद्धा के न होगा, और वे लोग इसे न कर सकेंगे, जिन्हें इस पर पूरा यक़ीन न हो, उससे ऐसा मालूम होता है, मानों उनके ख़याल में मुझे इस नई स्कीम पर भरोसा नहीं है। बल्कि उन्होंने श्रद्धा की तरफ़ कुछ इस तरह मेरा ध्यान दिलाया, कि शायद ईमानवालों की इस सभा में एक काफ़िर मैं ही हूँ। इसलिए मैं यह साफ़ बता देना चाहता हूँ कि मैं इस तजवीज़ के उसूल को बिलकुल ठीक समझता हूँ, इसके सही होने को मानता हूँ, और इसकी कामयाबी पर पूरा भरोसा रखता हूँ।

लेकिन इसके यह मानी तो नहीं होते कि इस स्कीम में मुझे जो कसर मालूम हो, इसके चलाने में जिन बातों का डर हो, उनका ज़िक्र न करूँ। अगर महात्माजी मुझे हुक्म दें कि तुम आज से यहीं रहो, देहली न जाओ, और एक ऐसा मदरसा चलाओ, जिसमें किसी हाथ के काम के ज़रिये सब कुछ सिखाया जाय, तो मैं यहीं रह पडूँगा। मगर जब किसी कान्फरेन्स में बुलाकर वह मुझसे मेरी राय पूछेंगे, तो ज़रूर जो मेरी समझ में आयेगा, कहूँगा। ज़रूरत होगी तो लड़ूँ-झगड़ूँगा; और फिर या तो अपनी बात मनवा लूँगा या उनकी मान लूँगा।

मेरी ज़बान से कल एक बात निकली थी कि महात्माजी की तजवीज़ नई नहीं है। महात्माजी भी, और आप सब भी, जानते हैं कि यह मैंने इसलिए कहा था कि नई चीज़ से लोग ज़रा भड़कते हैं; और जिस चीज़ का कुछ तजरबा हो चुका हो, उसकी तरफ़ आसानी से ध्यान देते हैं। जहाँ तक तालीम देने के तरीक़े का सवाल है, मेरा अब भी ख़याल है कि यह तजवीज़ कोई नई चीज़ नहीं है। पर मैं समझता हूँ कि

मेरे इस कहने पर कि यह तरीक़ा नया नहीं है, अब तो और भी लोगों को ख़फ़ा न होना चाहिए, क्योंकि अभी-अभी महादेव भाई ने एक किताब से पढ़कर आपको सुनाया है कि यही तरीक़ा रूस में पहले से बरता जा रहा है। आप लोगों में से बहुत से लोग जानते होंगे कि इस तरीक़े की हिमायत में किताबें भरी पड़ी हैं। मैं तो समझता हूँ, मैं 'पेस्टॉलॉज़ी' की किताबों से बाज़ ऐसे हिस्से निकाल सकता हूँ, कि अगर उनको अलग काग़ज़ पर छापकर नीचे मो० क० गांधी लिख दिया जाय, तो इस कॉन्फ़रेन्स में बहुत लोग ऐसे न होंगे, जो पहचान जायँ कि यह गांधीजी का लिखा हुआ नहीं है। इसका मतलब बस यही है कि अकसर दुनिया के अच्छे और सच्चे लोग बहुत-सी बातें एक ही तरह सोचते हैं।

मैं अब भी समझता हूँ, कि जो तरीक़ा महात्माजी बता रहे हैं, नया नहीं है; मगर सारे हिन्दुस्तान के लिए इसको इस सूरत में सामने लाना नया है; एक पूरे मुल्क से इसका मनवा लेना नया है; और महात्माजी की बड़ाई के लिए इसका नया होना कोई बात नहीं। उन्होंने तो हमारे मुल्क को एक नई ज़िन्दगी दी है, उसे अपने ऊपर भरोसा दिया है, सच पर अड़ने और दुश्मन से मुहब्बत करके उसे दोस्त बनाने का गुर सिखाया है। इस दुनिया में जहाँ देश-देश और क़ौम-क़ौम आपस में वहशियों और जानवरों की तरह कट-मर रहे हैं, उन्होंने अहिंसा से झगड़े चुकाने का रास्ता बताया है; और इस वक्त जब सब लोग अपने चारों तरफ़ दीवारें बना-बनाकर आदमियत के टुकड़े-टुकड़े करना चाहते हैं, उन्होंने सबको मिलाने की तदबीर निकाली है। एक पूरी क़ौम को उन्होंने उसका फ़र्ज़ समझाया है। आज हर हिन्दुस्तानी को नाज़ है कि वह उनके ज़माने में पैदा हुआ और ज़िन्दा है। उनके लिए आप यह क्या बड़ाई बताते हैं कि दस्तकारी के ज़रिये तालीम देने का जो तरीक़ा उन्होंने पेश किया है, वह नया है! तरीक़ा तो नया नहीं है, मगर जिन कामों के लिए वह तरीक़ा बरता जायगा, उससे जैसे आदमी पैदा होंगे, और वे जो कुछ करना जानेंगे, उसपर महात्माजी की ज़िंदगी और ख़यालात का असर होगा। और शायद वे लोग इस दुखी दुनिया में मिल-जुलकर रहने-सहने की कोई नई राह निकाल सकेंगे। यह भी पुरानी बात है, पर इस दुनिया में ज़रूर नई मालूम होगी।

: ९ :

इस प्रकार यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण चर्चा समाप्त हुई और इस सबके अन्त में कुछ टीकाओं का जवाब देते हुए गांधीजी ने नीचा लिखा भाषण किया :

मेरी इस तजवीज़ पर ग़ौर करने के बाद यह सवाल उठ सकता है, कि क्या हमें मौजूदा प्राइमरी और सेकण्डरी स्कूलों को बन्द कर देना होगा ? मेरे दिल में तो इसके बारे में कोई शक नहीं है—मैं तो समझता हूँ, कि ऐसा ही होना चाहिए। मगर इस होने-न-होने का फैसला तो मिनिस्टर लोग ही कर सकते हैं। मेरा अपना यह ख़याल है कि अगर हमारा मौजूदा स्टाफ़, यानी हमारे पुराने शिक्षक, शिक्षा के इस नये ढंग को स्वीकार कर लें, तो फिर कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता। जहाँ-जहाँ आज मदरसे मौजूद हैं, वहाँ-वहाँ हम इस नये तरीक़े से काम शुरू कर सकते हैं। और, जहाँ अबतक कोई मदरसा रहा ही नहीं है, वहाँ तो अपने ढंग के नये मदरसे क़ायम करने और चलाने में हमें ज्यादा दिक्क़त न होनी चाहिए। वर्धा और सेगाँव के आस-पास तो मैं खुद ही नये मदरसे चलाने की कोशिश करूँगा।

मुझसे कहा गया है कि आप लोगों ने इस योजना को मंजूर करते समय मन में कुछ हिचक रक्खी है। वह क्या है, और क्यों है, सो मैं जानता हूँ। हमारे पास आज कोई ऐसी खुदाई ताक़त नहीं है कि जो चाहें, बात-की-बात में, करा डालें। अध्यापक शाह को जो अँदेशा है, उसके लिए भी आज कोई मौक़ा मैं नहीं देखता। क्योंकि ७ लाख गाँवों में एकदम ही हम इस चीज़ को शुरू नहीं कर सकेंगे। इसे व्यापक और अनिवार्य बनाने से पहले प्रयोगों द्वारा हमें इसकी सच्चाई साबित करनी होगी। इसमें काफ़ी समय लग सकता है। मगर मैं मानता हूँ कि इन प्रयोगों के सिलसिले में ही ऐसी बातें हमारे सामने आ जायँगी, कि शको-शुबहा के लिए कोई जगह न रह जायगी। लेकिन अगर यह चीज़ न चली और नाकामयाब हुई, तो अपने आप मर जायगी—किसी महात्मा का महात्मापन इसे बचा न सकेगा। लेकिन मैं इस मामले में इतनी दूर जाने को तैयार नहीं हूँ। मैं समझता हूँ कि इसमें कोरा आदर्श ही नहीं है; क्योंकि आदर्श की बातें करते हुए भी मैं व्यवहार को भूलता नहीं हूँ। इसीलिए मैं अपने को व्यावहारिक आदर्शवादी मानता हूँ। ख़ैर!

तो अब हमारा अगला क़दम यह हो कि आज ही हम एक कमेटी मकर्रर कर दें, जो इस काम को आगे चलाये और हमारे सामने सारी योजना का ढाँचा पेश करे। इससे हमारे मन्त्रियों को बहुत मदद मिल सकेगी और उनका काम आसान हो सकेगा।

मैं इसी सिलसिले आपके सामने कॉलेज की पढ़ाई के बारे में भी अपने कुछ खयालात रखना चाहता था, मगर अब नहीं रख सकूँगा। इसलिए आज उसे छोड़ देता हूँ। आगे मौक़ा पाकर 'हरिजन' में मैं उसका ज़िक्र करूँगा, और उम्मीद रक्खूँगा कि जिन्हें इस चीज़ से दिलचस्पी है, वे मेरे विचारों को पढ़कर इस बारे में मुझसे खतो-किताबत कर लेंगे। मैं समझता हूँ कि उच्च शिक्षा के इस सवाल को हम अभी कुछ दिन तक मुल्तवी रख सकते हैं; लेकिन प्राथमिक शिक्षा के बारे में तो अब हम एक मिनट की भी राह नहीं देख सकते। अगर हम ऐसा करेंगे, तो हमें बड़ी नदामत उठानी होगी। पिछले २० साल से हम प्राथमिक शिक्षा के मौजूदा ढंग पर हमला करते आये हैं। अब इस मौक़े पर, जब कि सात प्रान्तों में हुकूमत की बागडोर कांग्रेसी मन्त्रियों के हाथ म है, हमें अपने तमाम दावों को साबित करके दिखाना होगा। इसका एक फ़ायदा यह भी होगा कि जब इस चीज़ को लेकर हम देहात में जायँगे, तो इसके कारण वहाँ के छोटे-मोटे तमाम सवालात को हल करने का एक मज़बूत प्लैटफार्म भी हमें वहाँ मिल जायगा।

इस योजना में मैंने ७ बरस की जो मुद्दत सुझाई है, वह कोई ऐसी मुद्दत नहीं है, कि घट-बढ़ ही न सके। अगर आप समझते हैं, कि इतना वक्त कम है, तो आप इसे बढ़ा भी सकते हैं।

* * *

भाषण के अन्त में सभापतिजी ने कमेटी की ओर से आये हुए प्रस्ताव पर, जो पृष्ठ ९४ पर छपा है, मत लिये और लगभग सर्वसम्मति से प्रस्ताव मंजूर किया गया। अकेले अध्यापक शाह ने प्रस्ताव के अन्तिम भाग से अपनी असम्मति प्रकट की।

इसके बाद गांधीजी ने पाठ्य-क्रम समिति के सदस्यों के नाम सुझाये और यह प्रस्ताव किया कि यह समिति १५ दिन के अन्दर अपनी रिपोर्ट परिषद् के

अध्यक्ष को पेश करे। सुझाये हुए नामों पर और १५ दिन की मुद्दतवाले प्रस्ताव पर थोड़ी चर्चा हुई। इस चर्चा के दरम्यान बाबू राजेन्द्रप्रसादजी ने यह सुझाया कि अच्छा हो यदि इस समिति में प्रान्तीय शिक्षा-विभागों के कुछ अधिकारियों और बाहर के शिक्षाविज्ञों को भी शामिल किया जाय। नहीं तो डर है कि वे इस कमेटी की रिपोर्ट को पूर्वग्रह की यानी 'प्रेजुडिस' की निगाह से देखें और इसमें ख़ास दिलचस्पी न ले सकें। इसलिए मैं समझता हूँ, कि उन्हें भी बुलाया जाय। अगर उनका सहयोग हमें मिल गया, तो अच्छा ही है।

जवाब में गांधीजी ने कहा—बात तो ठीक है, लेकिन कमेटी के काम में ज़्यादा सहूलियत होगी, अगर उसके अधिकतर सदस्य समान विचार रखते हों। हाँ, कमेटी को यह अधिकार रहेगा कि वह जिन्हें चाहे अपनी मदद के लिए बुला ले।

अन्त में यह तय हुआ कि रिपोर्ट पेश करने की मुद्दत १॰ महीना रक्खी जाय, और उसके लिए नीचे लिखे सदस्यों की एक समिति क़ायम की जाय :

समिति के सदस्यों के नाम :

डॉ. ज़ाकिर हुसैन, सभापति
श्री आर्यनायकम्, संयोजक
,, ख़्वाजा गुलाम सैयदेन, अलीगढ़
,, अध्यापक खुशाल तलकशी शाह
,, विनोबा भावे
,, काका साहब कालेलकर
,, किशोरलाल मशरूवाला
,, जे. सी. कुमाराप्पा
,, श्रीकृष्णदास जाजू
श्रीमती आशादेवी

समिति को नाम बढ़ाने का अधिकार दिया गया।

: १० :

अन्त में परिषद् की कार्रवाई को समाप्त करते हुए और आये हुए सज्जनों का आभार मानते हुए गांधीजी ने नीचे लिखा भाषण किया :

मैं समझता हूँ कि अब परिषद् की कारवाई खतम होती है। लेकिन इसे विसर्जित करने से पहले मैं आप सबका एहसान मानना ज़रूरी समझता हूँ। आप सबने मिलकर मेरे काम को बहुत आसान कर दिया है। मैं तो देश में एक नया काम शुरू करना चाहता था। मैं देखता हूँ, कि इस परिषद् से वह शुरू हो गया है। आप भी देख चुके हैं कि इसका श्रीगणेश करते हुए न हमने खुदा की इबादत की, न गाने बजाने का इन्तज़ाम किया। क्योंकि मैं मानता हूँ कि यह सब उसीका काम है। मुझे उम्मीद है कि अगर आप लोगों की ऐसी ही मदद रही, तो इस छोटी-सी परिषद् से आगे हम बहुत बड़ा काम कर सकेंगे।

मैं जानता हूँ कि इस परिषद् के कारण देश में कइयों को फ़िक्र है कि कहीं हम जल्दी में कोई ऐसी बात तय न कर डालें, जो बाद में लोगों को अखरे। इसके लिए मेरे पास कई खत बतौर चेतावनी के आ भी चुके हैं। मालवीयजी महाराज का तार भी मेरे पास पड़ा हुआ है। उनका कहना है कि इस परिषद् को ही आखिरी चीज़ न बना दिया जाय। इसके सब प्रस्ताव अस्थायी हों; जिनको स्थायी रूप देने के लिए बाद में किसी केन्द्रिय स्थान में देश के विद्वानों की एक बड़ी परिषद् बुलाई जाय। उनकी यह चेतावनी ठीक है। मैं भी मानता हूँ कि हमारी इस परिषद् का कोई खास दर्ज़ा या स्टेटस नहीं है। हम सब तो यहाँ साधक बनकर कुछ सोचने-समझने को इकट्ठा हुए थे। मालवीयजी महाराज को जो अँदेशा है, उसकी कोई वजह मैं नहीं देखता। क्योंकि मैं कह चुका हूँ इस परिषद् के निर्णय अस्थायी या 'टेण्टेटिव्' हैं, और हमें अभी ऐसी एक नहीं, अनेक परिषदें करनी हैं। हज़ारों को इस काम में शामिल करना है। मेरी आदत में यह चीज़ रही तो है कि जब मैं किसी काम को तुरत-फुरत करना चाहता हूँ, तो वैसे भी करा लेता हूँ : जैसे कि सत्याग्रह ! दक्षिण आफ्रिका से जब मैं हिन्दुस्तान आया, तो सत्याग्रह का निश्चय करके नहीं आया था। लेकिन सत्याग्रह हुआ; क्योंकि हम सब वही न करते हैं, जो 'मालिक' हमसे कराता है ! मैं यह भी मानता हूँ कि तूफ़ान

पैदा करने की थोड़ी ताक़त मेरे अन्दर पड़ी है। लेकिन सभी काम मैं तूफ़ान से कराना नहीं चाहता। क्योंकि मैं कुछ-कुछ जान लेता हूँ कि कब तूफ़ान से काम चलेगा और कब बिना तूफ़ान के! इससे आप यह न समझिये कि मैं अपने मुँह अपनी तारीफ़ कर रहा हूँ। मैं तो कोई चीज़ नहीं हूँ। मालिक की मर्जी ही सब-कुछ है। वह जैसा चाहता है, करा लेता है। जो खुदापरस्त है, प्रभु का सेवक है, वह उसकी मर्जी में अपनी मर्जी मिला देता है। उसका हर काम उसीकी इच्छा से होता है। वह हमें खिलाता भी है, और जब चाहता है, हमारे मुँह से मुँह का कौर तक छीन लेता है! वह ऐसी ही एक बड़ी ताक़त है, जिसे आप चाहें 'नेचर' या कुदरत कहिये, चाहें राम या रहमान कहिये!

जब तूफ़ान की बात निकली है, तो उसका थोड़ा इतिहास भी मैं आपको सुना दूँ। हिन्दुस्तान में जब असहयोग आन्दोलन शुरू हुआ, तो उसे मैंने तूफ़ानी ढंग से शुरू नहीं किया। मुझे याद है कि उन दिनों इलाहाबाद में मुसलमानों का जो बड़ा जलसा हुआ था, उसमें हसरत मोहनी ने यह तजवीज़ पेश की, कि खिलाफ़त-अन्याय का जवाब देने के लिए ब्रिटिश कपड़े का बायकाट ही एक इलाज हो सकता है। इस पर मैंने उनसे यह कहा कि सिर्फ़ ब्रिटिश कपड़ों का ही नहीं, तमाम परदेशी कपड़ों का बायकाट हम कर सकते हैं। हसरत मोहनी ने उलट कर मुझसे यह पूछा कि अगर उसमें कामयाबी न मिली? तब मैंने कहा—'तो हम 'नॉन कोऑपरेशन' यानी असहयोग करेंगे!' इस प्रकार 'नॉन कोऑपरेशन' शब्द का पहला प्रयोग मैंने वहाँ किया। इसके बाद कलकत्ता कांग्रेस के लिए जाते हुए जब मैंने रेलगाड़ी में उसके खास प्रस्ताव का मसविदा तैयार किया, तो उसमें सिर्फ़ 'नान कोऑपरेशन' शब्द ही रक्खा था। पर जब कलकत्ते जाकर उस प्रस्ताव के छपे हुए रूप को फिर पढ़ने बैठा, तो एकाएक मुझे सूझ गया कि बिना 'अहिंसक' विशेषण के 'असहयोग' चल नहीं सकता। मैंने यह विचार अलीभाइयों के सामने रक्खा और दोनों भाइयों ने तुरत इस तरमीम को मंजूर कर लिया।

इस तरह आपने देख लिया कि 'नॉन कोऑपरेशन' का जनम खिलाफ़त कॉन्फरेन्स में हुआ और 'नॉन वॉयलेण्ट नॉन कोऑपरेशन' कलकत्ते में सोचा गया। उन्हीं दिनों मद्य-निषेध या 'प्रोहिबिशन' भी कांग्रेस के रचनात्मक कामों में शामिल किया गया। मद्य-निषेध के इस कार्यक्रम को देखकर प्रिन्सिपल परांजपे ने मुझसे उन दिनों कहा था—'आप शराब-बन्दी करेंगे तो, लेकिन उससे होनेवाली आमदनी के बिना देश में बच्चों की शिक्षा का प्रबन्ध कैसे करेंगे?' मैंने उस वक्त उन्हें यह जवाब दिया था कि

देश के बच्चों का कुछ ही क्यों न हो, शराब की आमदनी से उनकी शिक्षा का कोई सम्बन्ध न रहना चाहिए। तभी से मेरे मन में यह बात खटक रही थी कि हमारे बच्चे शराब की आमदनी से शिक्षा पा रहे हैं। तब मैंने सोचा था कि शराब-बन्दी तो करनी ही है; शिक्षा का और कोई प्रबन्ध कर लेंगे। लेकिन अब की जो मैं यह कह रहा हूँ कि हमारी प्राथमिक शिक्षा स्वावलम्बी होनी चाहिए, सो मेरा स्वतंत्र सिद्धान्त है। शराब-बन्दी के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं। शराब-बन्दी हो या न हो, शिक्षा तो स्वावलम्बी होनी ही चाहिए। मैं समझता हूँ कि हमारे अहिंसा के सिद्धान्त का यही तक़ाज़ा है। शराब-बन्दी तो इसका एक निमित्त-मात्र हो सकती है। लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि शराब-बन्दी न होगी—ज़रूर होगी। जब से अधिकार-ग्रहण का निश्चय हुआ है, तभी से वे दृश्य मेरी आँखों के सामने हैं, जिनमें हमारी बहनों को शराब की दूकानों के सामने धरना देते समय न सिर्फ़ तकलीफ़ें उठानी और मारें खानी पड़ी थीं, बल्कि अपना खून तक बहाना पड़ा था!

गरज़ कि मेरी इस तजवीज़ की बुनियाद पुराने असहयोग के वक्त की है। मैं इसे नई या मौलिक इसलिए कहता हूँ कि इसके पीछे हिन्दुस्तान की परिस्थिति का अध्ययन है; और उसको ध्यान में रखकर यह बनाई गई है!

मैं एक बार फिर आप सबका एहसान मानता हूँ, और ऐलान करता हूँ कि इस परिषद् की कार्रवाई खतम हुई!

: ११ :

अन्त में परिषद् के स्वागताध्यक्ष श्री जमनालालजी बजाज ने स्वागत-सम्बन्धी त्रुटियों का उल्लेख करते हुए समागत सज्जनों से क्षमा चाही। उन्होंने कहा :

हर्ष की बात है कि आप सबके हार्दिक सहयोग और स्नेह से परिषद् का काम बड़ी ही शान्ति और सुव्यवस्था के साथ सम्पन्न हुआ। इसके लिए आपका जितना आभार माना जाय, कम ही है। मेरा कर्त्तव्य है कि मैं स्वागत-समिति की ओर से और

मारवाड़ी शिक्षा मंडल की ओर से आप सबका हृदय से आभार मानूँ और यहाँ के प्रबन्ध में जो भी त्रुटियाँ रह गई हैं, उनके लिए क्षमा-प्रार्थना करूँ। परिषद् के सभापति महात्मा गांधीजी को धन्यवाद देने या उनका आभार मानने की धृष्टता तो भला मैं कैसे करूँ ? हाँ, उनकी सेवा में इतना निवेदन ज़रूर कर देना चाहता हूँ कि इस परिषद् की आयोजना के कारण मंडल पर इस सम्बन्ध की जो ज़िम्मेवारी आई है, उसे निबाहने और सफल बनाने में मंडल और उसके कार्यकर्त्ता अपनी ओर से कोई बात उठा न रक्खेंगे।

परिशिष्ट [अ]

उन सज्जनों और महिलाओं की नामावली, जो निमंत्रण पाकर परिषद् में उपस्थित हुए थे :

१.	महात्मा गांधी,	सभापति	
२.	सेठ जमनालाल बजाज,	स्वागताध्यक्ष	
३.	माननीय श्री बाल गंगाधर खेर, प्रधान मंत्री,		बम्बई
४.	माननीय श्री विश्वनाथदास,	,,	उत्कल
५.	माननीय श्री प्यारेलाल शर्मा,	शिक्षा-मंत्री	संयुक्त प्रान्त
६.	माननीय श्री रविशंकरजी शुक्ल	,,	मध्यप्रान्त-बरार
७.	माननीय श्री सुब्बारायन्	,,	मद्रास
८.	माननीय श्री डॉ० सैयद महमूद	,,	बिहार
९.	माननीय श्री रामनाथन्	प्रकाशन-मंत्री	मद्रास
१०.	श्री वी० वी० अतीतकर,		पूना
११.	श्रीमती अनसूयाबहन,		अहमदाबाद
१२.	मौलवी अब्दुलहक़ साहब,		हैदराबाद
१३.	श्री आबिदहुसैन,		दिल्ली
१४.	,, अमृतलाल ठक्कर,		दिल्ली
१५.	,, अविनाशलिंगम् चेट्टियर,		कोयम्बटूर
१६.	आचार्य, तिलक राष्ट्रीय विद्यालय,		खामगाँव
१७.	आचार्य, तिलक राष्ट्रीय विद्यालय,		नागपुर
१८.	आचार्य, राष्ट्रीय विद्यालय,		अकोला
१९.	डॉ० आत्माराम कृष्ण भागवत		

२०.	श्री आर्यनायकम्,	वर्धा
२१.	श्रीमती आशादेवी,	वर्धा
२२.	,, इन्दुमतीबहन,	अहमदाबाद
२३.	,, कस्तुरबा गांधी,	सेगाँव
२४.	श्री काका साहब कालेलकर,	वर्धा
२५.	,, कानडे शास्त्री,	बुलढाणा
२६.	,, काशिनाथ त्रिवेदी,	वर्धा
२७.	,, वी. एन. कुम्भारे	पूना
२८.	श्री जे. सी. कुमाराप्पा,	वर्धा
२९.	,, अध्यापक खुशाल तलकशी शाह,	बम्बई
३०.	,, गंगाधरराव देशपाण्डे,	बेलगाँव
३१.	,, गोकुलभाई भट्ट,	विलेपारले
३२.	,, गोपबन्धु चौधरी,	कटक
३३.	,, गोपालराव काळे,	वर्धा
३४.	,, गोपालराव कुलकर्णी,	बम्बई
३५.	श्रीमती गोशी बहन कैप्टन,	बम्बई
३६.	श्री जीवणलाल दीवान,	अहमदाबाद
३७.	,, जुगतराम दवे,	बारडोली
३८.	,, जेठालाल गांधी,	अहमदाबाद
३९.	,, जेम्स राम,	धमतरी
४०.	,, झवेरभाई पटेल,	वर्धा
४१.	डॉ. ज़ाकिर हुसैन,	दिल्ली
४२.	श्री झीणाभाई देसाई,	बम्बई
४३.	,, त्र्यम्बकलाल भट्ट,	वर्धा
४४.	,, दादा धर्माधिकारी,	वर्धा
४५.	,, दिलखुश दीवानजी,	कराड़ी
४६.	,, देवशर्मा,	गुरुकुल काँगड़ी
४७.	,, देसाई भाई पटेल,	नड़ियाद
४८.	,, नरहरि परीख,	अहमदाबाद

४९.	श्री. नर्मदाप्रसाद मिश्र,	नागपुर
५०.	,, नाना आठवले,	वर्धा
५१.	,, नानाभाई भट्ट,	भावनगर
५२.	,, नारायणदास मलकानी,	दिल्ली
५३.	,, प्यारेलाल ठाकुर,	रायपुर
५४.	आचार्य प्रफुल्लचन्द्रराय,	कलकत्ता
५५.	श्री बलवन्तराय ठाकोर,	अहमदाबाद
५६.	,, बाबा राघवदास,	गोरखपुर
५७.	,, बेंजामिन बालाराम,	अहमदनगर
५८.	डॉ. भारतन कुमाराप्पा,	वर्धा
५९.	श्री स. के. भावे,	पूना
६०.	आचार्य भिसे,	बोरडी
६१.	श्री मगनभाई देसाई,	अहमदाबाद
६२.	,, मथुराप्रसाद,	पटना
६३.	डॉ० महम्मद हाफ़िज़ सैयद,	इलाहाबाद
६४.	श्री महादेव देसाई,	वर्धा
६५.	,, माकड़, विद्याधिकारी	पोरबन्दर
६६.	प्रोफेसर मुजीब,	दिल्ली
६७.	श्रीमती मृदुलाबहन साराभाई,	अहमदाबाद
६८.	श्री मोखड़े,	तुमसर
६९.	,, रघुनाथ गणेश पंडित,	अकोला
७०.	,, राजेन्द्रप्रसाद,	पटना
७१.	,, रामदयाल तिवारी	रायपुर
७२.	,, रामनारायण पाठक,	अहमदाबाद
७३.	,, लक्ष्मीनारायणसिंह 'सुधांशु',	बिहार
७४.	,, लक्ष्मीश्वरसिंह,	शान्ति निकेतन
७५.	डॉ० लागू,	पूना
७६.	श्री वनमाली,	वर्धा
७७.	सरदार वल्लभभाई पटेल,	बम्बई

७८.	विद्याधिकारी,	बड़ौदा
७९.	श्री विनोबा भावे,	वर्धा
८०.	,, शंकरलाल बैंकर,	अहमदाबाद
८१.	,, शिवाभाई पटेल,	बोचासण
८२.	,, सत्यनारायण,	वर्धा
८३.	,, सबनीस,	बम्बई
८४.	,, सुब्बाराम ठाकुर,	बिहार
८५.	श्रीमती सौदामिनी मेहता,	कलकत्ता
८६.	श्री स्वामी आनन्द,	थाना
८७.	,, हरिभाऊ उपाध्याय,	हटूँडी
८८.	श्रीमती हंसा मेहता,	बम्बई
८९.	श्री हीरालाल खन्ना,	कानपुर
९०.	,, महम्मद सैयद हुसैन,	हैदराबाद

शिक्षा-समिति, वर्धा

सुबोधसिंधु प्रेस, खंडवा.